साहित्य-शास्त्र परिचय

कक्षा ११-१२ की हिन्दी वैकल्पिक पाठ्यपुस्तक

प्रो० प्रेमस्वरूप गुप्त
डा० श्यामलाकांत वर्मा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
National Council of Educational Research and Training

आमुख

नवीन शिक्षा योजना की महत्वपूर्ण विशेषता उसकी बाह्य संरचना या गठन मात्र नहीं है, अपितु वह प्रयोजन एवं दृष्टिकोण है, जो शिक्षा का संबंध राष्ट्रीय विकास के साथ जोड़ने पर बल देता है। इसी दृष्टि से परिषद् के तत्वावधान में विद्यालीय स्तर के विभिन्न शैक्षणिक विषयों के लिए पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया है। इनके निर्माण में निम्नांकित सिद्धांतों का विशेष ध्यान रखा गया है—

१. ऐसी पाठ्य सामग्री एवं शैक्षिक क्रियाओं का समावेश, जिनसे बालकों में राष्ट्रीय लक्ष्यों—जनतांत्रिकता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, सामाजिक न्याय, राष्ट्रीय एकता के प्रति चेतना एवं आस्था उत्पन्न हो और उनमें तर्कसंगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो।

२. पाठ्यचर्या एवं पाठ्यसामग्री भारतीय जीवन-परिस्थितियों, उद्योग, कृषि, समाज-सेवा आदि तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश पर आधारित हो और उनमें वांछित भावी विकास की दिशा भी परिलक्षित हो।

३. पाठ्यपुस्तकें बालकों के भावात्मक एवं बौद्धिक उत्कर्ष, चरित्र-निर्माण, तथा स्वस्थ अभिवृत्ति-विकास की दृष्टि से प्रेरणादायी सिद्ध हों, उनके द्वारा बालकों मे स्वयंशिक्षा एवं अधिकाधिक ज्ञानार्जन की उत्कंठा जागृत हो और वे निर्धारित पाठ्य-विषय तक ही सीमित न रहकर विशद एवं व्यापक अध्ययन के लिए जिज्ञासु तथा तत्पर बने रहें।

उपर्युक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए अन्य विषयों की भांति हिंदी (मातृ-भाषा) भाषा एवं साहित्य के पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण के लिए योजना तैयार की गई और इस कार्य को सभी दृष्टियों से परिपूर्ण एवं प्रामाणिक बनाने के लिए राष्ट्रीय स्तर के विषय-विशेषज्ञों एवं अधिकारी विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया गया है। मैं इन सभी विद्वानों के प्रति उनके अमूल्य सहयोग के लिए हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

हमारे अनुरोध पर प्रो० प्रेमस्वरूप गुप्त, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़ तथा डा० श्यामलाकांत वर्मा, शोध अधिकारी, राज्य हिन्दी संस्थान, उत्तरप्रदेश, वाराणसी ने प्रस्तुत पुस्तक लिखने की कृपा की है, इसके लिए मैं इन दोनों महानुभावों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

परिषद् के सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के सहकर्मियों एवं विशेष रूप से हिंदी पाठ्यपुस्तक योजना से संबद्ध विभागीय सदस्यों—प्रो० अनिल विद्यालंकार, श्री निरंजनकुमार सिंह, श्री शशिकुमार शर्मा, डा० अनिरुद्ध राय तथा डा० (श्रीमती) सविता वर्मा के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना दायित्व समझता हूँ।

आशा है शास्त्रीय आधार पर साहित्यानुशीलन एवं साहित्यिक अभिरुचि के विकास की दृष्टि से बालकों के लिए यह पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी। इसके सुधार एवं परिष्कार की दृष्टि से सुविज्ञजनों द्वारा भेजे गए सुझावों एवं परामर्शों का हम सदा स्वागत करेंगे।

शिवकुमार मिश्र
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

नई दिल्ली
मई 1978

प्रस्तावना

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के तत्वावधान में १०+२ वर्षीय शिक्षा योजना की दृष्टि से विभिन्न कक्षाओं के लिए पाठ्यपुस्तकों के प्रणयन का जो कार्य चल रहा है, उसी योजना के अन्तर्गत कक्षा ११-१२ की वैकल्पिक हिन्दी के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए यह पुस्तक—साहित्य-शास्त्र परिचय—लिखी गई है। मुझे विश्वास है कि इससे विद्यार्थियों को साहित्य-शास्त्र के विविध पक्षों का परिचय तो मिलेगा ही, साथ ही इन कक्षाओं में निर्धारित हिन्दी पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन, विवेचन और आस्वादन में भी सहायता मिलेगी।

साहित्यानुशीलन स्वतः लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति का साधन है। यह आनंद सहज ढंग से तो प्राप्त होता है, किंतु अध्ययनकर्ता साहित्य-शास्त्र के अध्ययन के बिना साहित्यिक सौन्दर्य तत्वों का बोध और रसास्वादन नहीं कर पाता। इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन किया गया है। साहित्य-शास्त्र के अध्ययन से विविध साहित्यिक सौन्दर्य तत्वों एवं कलात्मक रूपों को समझने की क्षमता का विकास होता है और साहित्यानुशीलन की गहरी अन्तर्दृष्टि पैदा होती है। लक्षण ग्रंथ की यही उपयोगिता भी है। लक्ष्य ग्रंथों, जैसे काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध तथा अन्य साहित्यिक विधाओं की पुस्तकों के अध्ययन में प्रस्तुत पुस्तक लक्षण ग्रंथ के रूप में उपादेय सिद्ध होगी। निःसन्देह ही इसकी रचना करते समय कक्षा ११-१२ के विद्यार्थियों की भाषिक एवं साहित्यिक योग्यता एवं अध्ययनात्मक रुचि का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है, जिससे पुस्तक इस स्तर के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हो।

अध्ययन की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक की निम्नांकित विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है—

१. पुस्तक के प्रारंभ में कला की परिभाषा एवं उसके स्वरूप से परिचित कराने का प्रयास किया गया है और ललित कला के रूप में साहित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। साहित्य की परिभाषा और उसका स्वरूप बताते हुए, उसके भावपक्ष एवं कलापक्ष पर विचार किया गया है।

२. साहित्य की विभिन्न विधाओं का परिचय देते हुए कविता के भदों का सरल, सुबोध वर्णन किया गया है।

३. साहित्यिक सौन्दर्य तत्त्वों के बोध एवं रसास्वादन की दृष्टिसे उसके शास्त्रीय पक्ष पर सरल एवं सहज ढंग से प्रकाश डाला गया है और इसी संदर्भ में विभिन्न साहित्य-शास्त्रीय उपादानों—रस, शब्दशक्ति, अलंकार, छंद, लय आदि को स्पष्ट किया गया है। इन्हें सहजगम्य एवं सुबोधपूर्ण बनाने की दृष्टि से उपयुक्त उदाहरण भी दिए गए हैं। काव्यानुशीलन की अन्तर्दृष्टि पैदा करने के लिए काव्य के गुण एवं दोष का विवेचन भी सोदाहरण किया गया है।

४. नाटक के संबंध में भारतीय आचार्यों तथा पाश्चात्य साहित्यकारों के मतों को प्रस्तुत किया गया है और नाटक के प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों रूपों का विश्लेषण किया गया है। विधा की लोकप्रियता की दृष्टि से एकांकी-विवेचन पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

५. कथा साहित्य, उपन्यास और कहानी के विविध तत्त्वों पर विस्तार से विचार किया गया है। इस विवेचन में उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में नवीन दिशाओं एवं परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है।

६. गद्य की अन्य विधाओं—निबंध, आलोचना, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावृत्तांत, रिपोर्ताज आदि पर भी संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला गया है। कक्षा ११-१२ के लिए निर्धारित हिन्दी गद्य की पाठ्यपुस्तकों की भूमिका में इन विधाओं का विस्तृत परिचय दिया गया है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में इनका परिचय बहुत ही संक्षेप में दिया गया है। पुस्तक की कलेवर-वृद्धि के भय से भी यह संक्षिप्त रूप आवश्यक था।

आशा है प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से विद्यार्थियों में साहित्य के अध्ययन की अभिरुचि विकसित होगी और साहित्यिक तत्त्वों के विश्लेषण में वे अधिक सक्षम सिद्ध होंगे।

हम सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के सर्वश्री अनिल विद्यालंकार, निरंजन कुमार सिंह, शशि कुमार शर्मा और डा० अनिरुद्ध राय के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, जिनके सहयोग से यह पुस्तक यथासमय प्रणीत हो सकी। यदि इस पुस्तक से परिषद् का उद्देश्य सिद्ध हो जाए, तो हम अपने को कृतकृत्य समझेंगे। आशा है सुविज्ञ विद्वान इस विषय में सुझाव देकर अनुगृहीत करेंगे।

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
	आमुख	iii
	प्रस्तावना	v
१.	साहित्य	१
२.	साहित्य का स्वरूप और उद्देश्य	५
३.	विभिन्न साहित्यिक विधाएँ	६
४.	कविता	१३
५.	रस	१६
६.	शब्द शक्ति	२६
७.	अलंकार	३२
८.	गुण और दोष	४६
६.	छंद और लय	५०
१०.	नाटक	६१
११.	कथा साहित्य	७७
१२.	निबंध और आलोचना	६१
१३.	गद्य के अन्य रूप	१०१

१

साहित्य

ललित कला और साहित्य

किसी वस्तु में निहित उपयोगिता और सौन्दर्य को प्रकाशित करने का कौशल ही 'कला' है। उपयोगिता और सौन्दर्य के आधार पर कला के दो भेद किए गए हैं : (१) उपयोगी कला (२) ललित कला। उपयोगी कला में उपयोगिता का पक्ष प्रधान होता है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में उपयोगी कला सहायक होती है। बढ़ई, लुहार आदि के कार्य उपयोगी कला के उदाहरण हैं। इसके विपरीत ललित कला में सौन्दर्य तत्त्व की प्रधानता रहती है। ललित कलाएँ मानव को अलौकिक आनंद प्रदान करती हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने ललित कला की परिभाषा इस प्रकार की है :

ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इंद्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान इंद्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ललित-कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

मनुष्य की भावनाओं को सुसंस्कृत, उदात्त और परिमार्जित बनाने में ललित कलाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है। ललित कलाएँ पाँच प्रकार की मानी गई हैं : (१) काव्य (२) संगीत (३) चित्र (४) मूर्ति (५) वास्तु। इन सब में काव्य या साहित्य को सर्वोत्तम माना गया है। मानव को प्रभावित करने की सर्वाधिक क्षमता काव्य कला में ही है।

कला की सृष्टि कलाकार की नैसर्गिक प्रतिभा का परिणाम है। प्रतिभा का धनी कलाकार बनाया नहीं जाता है, वह पैदा होता है। कला-साधना का

यह सृष्टा है। इसीलिए कहा गया है : अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। इस उक्ति से यह बोध होता है कि कला एक व्यक्ति-विशेष की रचना है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कला का सम्बन्ध समाज से अछूता है। वास्तविकता तो यह है कि कला समाज से ही पोषण प्राप्त करती है। कलाकार भी सामाजिक प्राणी होता है। समाज की गतिविधियों का प्रभाव उसके मन पर पड़ना स्वाभाविक ही है। अपनी प्रतिभा से कलाकार समाज की स्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करता है। एक ओर तो वह अपनी कृति में इस सामाजिक सत्य को सुन्दरता के साथ उपस्थित करता है और दूसरी ओर अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर वह उसमें उपयोगिता का भाव समाविष्ट करता है। जो कलाकार अपनी कलाकृति को समाज से जोड़कर चलता है, वही जीवंत और कालजयी होता है। समाज से हटकर जीने वाले कलाकार की रचना का क्षणिक प्रभाव तो हो सकता है, किन्तु उसे जीवंत कला के रूप में मान्यता नहीं मिल पाती। कला अपनी जीवंतता के लिए जन-जीवन से जुड़ी रहती है।

प्रत्येक ललित कला का मूर्त आधार होता है। यह मूर्त आधार जितना ही सूक्ष्म होता है, कला उतनी ही उत्कृष्ट होती है। चित्र, मूर्ति और वास्तु कला का मूर्त आधार संगीत और काव्य कला की अपेक्षा अधिक स्थूल है। चित्र के लिए कपड़ा, कागज आदि की आवश्यकता होती है। मूर्ति के लिए पत्थर या किसी धातु का उपयोग किया जाता है। वास्तु (भवन-निर्माण) के लिए ईंट, पत्थर तथा अन्य आवश्यक सामग्री का प्रयोग होता है। संगीत का आधार 'नाद' है और काव्य का आधार 'शब्द' है। 'नाद' और 'शब्द' कागज, पत्थर, ईंट आदि की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म हैं। इसीलिए संगीत और काव्य को उत्कृष्ट कला के रूप में स्वीकार किया गया है।

साहित्य का महत्व

काव्य या साहित्य का माध्यम शब्द है। शब्द में अर्थ छिपा रहता है। इसी अर्थ संपन्न शब्द के द्वारा काव्य का कर्त्ता अपने अनुभूत सत्य को सहृदय तक पहुँचाता है। भाषा का माध्यम लेकर ही काव्यकार या साहित्यकार मानव की भावनाओं को परिमार्जित करने तथा उसकी सौन्दर्य-चेतना, संवेदनशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा को विकसित करने में अपनी भूमिका निभाता रहा है। कबीर ने मानव-मात्र की एकता को महत्त्व दिया, जायसी ने विश्वात्मा के प्रेम और सौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत की, सूर ने जन-चेतना की सौन्दर्य-भावना का उदात्त रूप उपस्थित किया और तुलसी ने भव्य आदर्शों का प्रकाश बिखेरा। यह सब कुछ साहित्य के द्वारा ही हुआ है।

व्यक्ति और समाज की दृष्टि से साहित्य का दुहरा कर्त्तव्य है। एक ओर तो साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर साहित्य समाज को नई दिशा देता है। किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति का इतिहास उस देश के साहित्य से ज्ञात होता है। जिस देश का साहित्य समृद्ध नहीं है, वह देश असभ्य रहा है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतवर्ष के इतिहास में जिस प्रकार की घटनाएँ जिस युग में घटीं, उस युग का साहित्य भी उसी रूप में रचा गया। साहित्यकार ने अपने युग का चित्रांकन करने के साथ ही विरोधी परिस्थितियों पर विजय पाने का मंत्र भी दिया। वीरगाथाकालीन कवि चंदबरदाई ने पृथ्वीराज के शौर्य का कथन मात्र नहीं किया, उन्हें अत्याचार और अनाचार के विरुद्ध युद्धरत भी चित्रित किया। इसीलिए कहा जाता है कि साहित्य में वह शक्ति है जो तोप और तलवार में भी नहीं है।

वर्तमान काल में मानव-जीवन भौतिक सुख की प्राप्ति में व्यस्त है। वैज्ञानिकों ने उसे सुख-समृद्धि के साधन प्रदान किए हैं। आज बुद्धि-पक्ष प्रबल होता जा रहा है और हृदय-पक्ष दुर्बल-सा हो रहा है। आज के वैज्ञानिक विकास ने मनुष्य को यंत्रवत् बना दिया है। सहानुभूति-संवेदना की मानवीय [illegible]तियाँ लुप्त-सी होती जा रही हैं और ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा-उत्पात का बाजार गर्म है। ऐसी स्थिति में भौतिक सुख प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य ने अपनी शा[illegible] खो दी है। उसे शान्ति देने के लिए साहित्य की आवश्यकता है। [illegible] मनुष्य की चित्त-वृत्तियों का शोधन कर उसमें राग-तत्त्व उत्पन्न करता है। [illegible] राग-तत्त्व के आधार पर मनुष्य का मनुष्य के प्रति स्नेह-संबंध स्थापित होता है तथा उसमें मनुष्यता विकसित होती है। साहित्य की इस महती [illegible] परिप्रेक्ष्य में आज साहित्यकार का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। [illegible] सृजन और अनुशीलन की आवश्यकता का अनुभव हम कर रहे हैं। इसी अनु[illegible]भूतिवश साहित्य की विविध विधाओं काव्य, कथा आदि को [illegible] जा रहा है।

साहित्य-शास्त्र

साहित्य की महत्त्वपूर्ण स्थिति का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् साहित्य-शास्त्र के संबंध में विचार कर लेना भी आवश्यक है। शास्त्र का कार्य विषय की समुचित जानकारी प्राप्त कराना है। किसी विषय के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस विषय के शास्त्र का अनुशीलन किया जाता है। साहित्य के सम्यक् अनुशीलन के लिए उसके शास्त्र का ज्ञान आवश्यक [illegible]

'शास्त्र' शब्द संस्कृत की शास् धातु से बना है। इसका अर्थ है अनुशासन। साहित्य-शास्त्र हमें साहित्य के विषय में अनुशासित करता है। साहित्य-सृजन के नियमों की व्यवस्थित जानकारी प्रदान करने के साथ ही साहित्य-शास्त्र हमें साहित्य के मर्म को समझने में भी सहायता देता है।

साहित्य-शास्त्र के लिए काव्य-शास्त्र शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। पूर्व काल में इसके लिए 'अलंकार-शास्त्र' का भी प्रयोग प्रचलित था। इन सभी प्रयोगों में साहित्य-शास्त्र ही सर्वाधिक प्रचलित है। आज काव्य शब्द कविता के रूप में रूढ़ हो गया है। साहित्य के अंतर्गत कविता के साथ-साथ अन्य विधाएँ—कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि—भी स्वीकृत हैं। इन सभी विधाओं के सम्बन्ध में सम्यक् जानकारी देने वाले शास्त्र को साहित्य-शास्त्र कहना ही युक्तियुक्त है। *हम अपने साहित्य का सही मूल्यांकन कर* सकें, इस उद्देश्य से साहित्य-शास्त्र का अध्ययन और अनुशीलन आवश्यक है।

२

साहित्य का स्वरूप और उद्देश्य

साहित्य : व्युत्पत्तिमूलक अर्थ और परिभाषा

मानव में सौन्दर्य-भावना का विकास करने और उसे कल्याण की ओर अग्रसर करने वाली कला को साहित्य कहते हैं। साहित्य शब्द सहित में ष्यञ् प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ है, 'सहित का भाव'। 'सहित' शब्द के दो अर्थ हैं : (१) साथ-साथ (२) हित सहित। इसी आधार पर साहित्य सम्बन्धी दो उक्तियाँ भी विचारणीय हैं : (१) सहितस्य भावः साहित्यम् (२) हितेन सहितम् साहित्यम्। इन उक्तियों और सहित शब्द के दोनों अर्थों पर विचार करने के पश्चात् यह स्वीकार किया गया है कि साहित्य में शब्द और अर्थ, भाषा और भाव साथ-साथ रहते हैं तथा उसमें हित अर्थात् कल्याण का भाव सन्निहित रहता है।

शब्द और अर्थ की संयुक्त स्थिति को मान्यता देते हुए ही काव्यालंकार नामक लक्षण-ग्रन्थ में भामह ने कहा है—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी "गिरा अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" की उक्ति से शब्द और अर्थ के महत्व को प्रकाशित किया है। साहित्यकार इसी शब्द और अर्थ के संयोग से ऐसे साहित्य की सृष्टि करता है जो मानव की सौन्दर्य-चेतना को उद्‌बुद्ध कर उसे आनन्द के लोक में पहुँचा देता है।

साहित्य में हित अर्थात् कल्याण के भाव का समाविष्ट हु
मनुष्य सौन्दर्य-चेतना को धारण करता हुआ कल्याण के मार्ग से विमुख न हो जाय, इस दृष्टि से साहित्य में हित की भावना को स्वीकृति दी गई है। इस प्रकार से साहित्य शब्द और अर्थ से युक्त वह रचना है, जिसमें कल्याण की भावना निहित होती है।

पूर्व काल मे साहित्य शब्द से उन सभी कृतियों का बोध होता था, जिनमें शब्दों के साथ अर्थ की अभिव्यक्ति होती थी । साहित्य शब्द के लिए अंग्रेजी मे लिटरेचर का प्रयोग किया जाता है । लिटरेचर की उत्पत्ति लैटर्स (अक्षर-समूह) से मानी जाती है । अंग्रेजी के इस शब्द का अर्थ भी शब्द और अर्थों मे युक्त रचना ही है । इस अर्थ मे साहित्य वाङ्मय का समानार्थी हो जाता है । इस दृष्टि से दवा की सूची भी एक साहित्य है, किन्तु आज 'साहित्य' शब्द का अर्थ परिवर्तित हो गया है । आज सम्पूर्ण 'वाङ्मय' को नहीं, केवल 'ललित वाङ्मय' को ही साहित्य के रूप में मान्यता प्राप्त है । वर्तमान अर्थ मे कविता, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, नाटक, निबन्ध आदि 'ललित वाङ्मय' ही साहित्य की कोटि में स्थान पाते है ।

साहित्य में सत्यं शिवं सुन्दरम्

साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की भावना का समावेश आवश्यक माना गया है । ये शब्द अंग्रेजी के 'द ट्रूथ, द गुड, द ब्यूटीफुल' के अनुवाद-स्वरूप है किन्तु इन शब्दों में छिपी हुई भावना भारतीय दर्शन में भी विद्यमान थी । सच्चिदानन्द के सत्+चित्+आनन्द इन्हीं भावों की सूचना देते है । इसके लिए गीता में सत्यं प्रियं हितं का उल्लेख है ।

साहित्यकार अपनी रचना को कालजयी बनाने के उद्देश्य से शाश्वत सत्य को ही अपना विषय बनाता है । समाज मे होने वाली घटनाओं के बीच से वह अपने कथ्य का चयन करता है और उसे अपने साहित्य मे इस सुन्दरता से प्रकाशित करता है कि उसकी रचना सामाजिक सत्य का बोध कराते हुए कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके । साहित्यकार के सत्य की सीमा में उसकी कल्पना का वह सत्य भी जुड़ जाता है जो आज नहीं है, किन्तु जो कल सत्य हो सकता है । सत्य की स्वीकृति, सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करने की क्षमता और कल्याणकारी को ही क्रमशः सत्यं शिवं सुन्दरम् कहा जा सकता है । साहित्य में इन तीनों का समावेश होना चाहिए ।

मनुष्य में उदात्त संस्कार जगाने और उसे पशुत्व से विमुख कर देवत्व की ओर ले जाने का सर्वोत्तम साधन साहित्य ही है । साहित्यकार का यह कर्त्तव्य है कि वह अशिव तत्त्व से समाज की रक्षा करे । काव्य-रचना के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

अर्थात् काव्य यश के लिए, अर्थ के लिए, लोगों को व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए, अकल्याणकारी या अमंगल का नाश करने के लिए, ब्रह्मानन्द सहोदर रस की प्राप्ति के लिए तथा कांता सम्मित उपदेश के रूप में रचा जाता है।

भाव पक्ष और कला पक्ष

साहित्य या काव्य की रचना के मूल में साहित्यकार की अनुभूति हुआ करती है। संवेदनशील व्यक्तित्वसम्पन्न, प्रतिभा और कल्पना का धनी साहित्यकार जैसा अनुभव करता है, वैसी ही भाव-सामग्री अपनी रचना के माध्यम से सहृदयों के समक्ष प्रस्तुत कर देता है।

इस प्रकार काव्य के दो पक्ष हैं --(१) अनुभूति पक्ष (२) अभिव्यक्ति पक्ष। अनुभूति पक्ष को ही काव्य का भाव पक्ष कहा जाता है। अभिव्यक्ति पक्ष को ही कला पक्ष के रूप में जाना जाता है। भाव पक्ष को काव्य का अंतरंग या भीतरी पक्ष भी कहते हैं। कला पक्ष काव्य का बहिरंग या बाह्य पक्ष कहलाता है। भाव पक्ष काव्य रूपी नायिका का प्राण है और कला पक्ष उसकी काया, उसका वस्त्र और उसके अलंकार के तुल्य हैं। प्राण के अभाव में नायिका शव मात्र रह जाती है और तब उसकी काया व उसका शृंगार महत्वहीन हो जाता है। ठीक इसी प्रकार काव्य या साहित्य यदि भावविहीन है तो व्यर्थ है। प्राण संपन्न नायिका यदि काया से रूपमयी और शृंगार सज्जित हो तो वह अतीव मोहक हो जाती है। यही स्थिति काव्य या साहित्य की भी है। भावपूर्ण रचना यदि कला पक्ष की दृष्टि से निखार प्राप्त कर लेती है तो वह सहज ही सबकी प्रशंसा भी प्राप्त कर लेती है।

काव्य में भाव पक्ष को प्रधानता प्राप्त है, किन्तु भाव पक्ष और कला पक्ष से समन्वित रचना ही सुन्दर साहित्य की श्रेणी में स्थान पाती है। भाव पक्ष का संबंध अर्थ-तत्त्व से होता है। कला पक्ष का सम्बन्ध भाषा और उसके अभिन्न उपकरणों—छन्द, अलंकार आदि से होता है। भाव पक्ष प्राण रूप है, इसलिए उसे ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है और इसीलिए काव्य की आत्मा के रूप में आज रस को मान्यता प्राप्त है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में कहा है—वाक्य रसात्मक काव्य। रस को काव्य की आत्मा रूप में अन्य आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

काव्य या साहित्य के अंतरंग और बहिरंग को देखते हुए उसमें चार तत्त्व स्वीकार किए गए हैं :

१. भाव तत्त्व।

२. बुद्धि या विचार तत्त्व।

३. कल्पना तत्त्व ।

४. अभिव्यक्ति या शैली तत्त्व ।

इन्हीं चारों तत्त्वों को दो पक्षों में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम तीन की स्थिति भाव पक्ष के अदर ही मान्य है। अतिम को कला पक्ष के रूप में मान्यता प्राप्त है। अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही पक्षों को औचित्य और लालित्य से प्रभावी और रमणीय बनाने वाली यह कला (साहित्य) लोक-मंगल का विधान करती हुई मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना को विकसित करती है तथा उसे लोकोत्तर आनन्द प्रदान करती है। मनुष्य की विचारधारा का परिष्कार कर वह उसे 'सामाजिक' और 'सहृदय' की श्रेणी में ला देती है। साहित्य का रस-तत्त्व हमारे मन में सात्विकता का समावेश कर हमें आनन्दमग्न कर देता है।

३

विभिन्न साहित्यिक विधाएँ

काव्य या साहित्य की रसानुभूति दो प्रकार से होती है—साहित्य का एक रूप श्रव्य है और दूसरा दृश्य। श्रव्य साहित्य को सुनकर उसका रसानुभव होता है। इससे भिन्न स्थिति दृश्य काव्य या दृश्य साहित्य की होती है। दृश्य काव्य का आनन्द देखकर प्राप्त होता है। इन दोनों ही प्रकार के साहित्यों को हम पढ़ते हैं। पढ़कर आनन्द प्राप्त करने की स्थिति दोनों ही प्रकार की रचनाओं के साथ जुड़ी हुई है, किन्तु श्रवण और दर्शन की विशेषता के आधार पर साहित्य या काव्य के दो भेद किए गए हैं : (१) श्रव्य काव्य या श्रव्य साहित्य, यथा कविता, कहानी, उपन्यास आदि (२) दृश्य काव्य या दृश्य साहित्य, यथा नाटक, एकांकी, प्रहसन, आदि। संस्कृत भाषा में साहित्य के चम्पू रूप को भी महत्व प्राप्त था। चम्पू काव्य को मिश्र काव्य भी कहते हैं।

कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र, जीवनी आदि साहित्य के विविध रूप हैं। इनके लेखन की अलग-अलग शैली है। इन्हें ही साहित्य की विभिन्न विधाएँ कहते हैं। कविता साहित्य की एक विधा है तो कहानी दूसरी विधा है। इसी प्रकार उपन्यास, नाटक आदि विभिन्न विधाओं में साहित्य की रचना होती है।

विधा की दृष्टि से श्रव्य काव्य को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है— (१) पद्य या कविता (२) गद्य।

कविता में सुर, लय और गेय तत्त्व की प्रधानता होती है। इन्हीं तत्त्वों को परिपुष्ट करने का उद्देश्य लेकर आचार्यों ने छन्द-नियमों का विधान किया है। छन्द-नियम के अन्तर्गत मात्रा और वर्ण की क्रम-योजना को स्वीकृति प्राप्त

है, किन्तु नई कविता में छन्द-बन्धन को अनिवार्य नहीं समझा गया है। नई कविता में नाद-तत्त्व का प्रयोग होता है। गेय तत्त्व को पदों और गीतों का मुख्य तत्त्व माना जाने लगा है।

काव्य शब्द आज कविता के रूप में ही रूढ़ हो गया है। इस अर्थ में काव्य को तीन भागों में बाँटा गया है: (१) महाकाव्य (२) खण्डकाव्य (३) मुक्तक रचना। इनमें प्रथम दो को प्रबन्ध काव्य के रूप में मान्यता प्राप्त है। किसी कथा का आश्रय लेकर जब रचना का संयोजन किया जाता है, तब उसे प्रबन्ध काव्य की संज्ञा प्राप्त होती है। महाकाव्य और खंडकाव्य में कथा-सूत्र का होना अनिवार्य होता है। इसीलिए इन्हें प्रबन्ध मूलक माना जाता है। प्रबन्ध काव्य के दो रूपों में ही इन्हें स्वीकार किया गया है। मुक्तक रचना में कथा-सूत्र की आवश्यकता नहीं होती है। वह भाव-विशेष से सम्बद्ध एक स्वतंत्र रचना होती है।

गद्य की स्थिति पद्य या कविता से भिन्न है। गद्य में गेयता या लय आपेक्षित नहीं है। गद्य में गद् का अर्थात् वाणी की सहज व्यक्तता का महत्व होता है। वर्तमान समय में गद् के अनेक रूप उपलब्ध हैं। गद्य-रचना की विविध विधाएँ आज अपना उत्कर्ष दिखा रही हैं। कथा का कथन करने वाला गद्य कथा-साहित्य के रूप में आज संपुष्ट हो रहा है। उपन्यास, कहानी आदि कथा-साहित्य की विभिन्न विधाएँ हैं। निबन्ध गद्य की एक दूसरी सशक्त विधा है। निबन्ध भी कई प्रकार के लिखे जा रहे हैं और उनके लेखन की भिन्न-भिन्न शैलियाँ आज प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही है। जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रा-वृत्तान्त, डायरी, पत्र, रिपोर्ताज आदि गद्य की विभिन्न विधाओं में विपुल साहित्य की रचना की जा रही है।

दृश्य काव्य के रूप में नाटक को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पूर्व काल में नाटक गद्य-पद्यमय रचना के रूप में ही प्रदर्शित होता था। वर्तमान समय में नाटक गद्य की ही एक सशक्त विधा के रूप में मान्य है। नाटक के मध्य कहीं-कहीं परिस्थिति-सापेक्ष कविताओं और गीतों का भी संयोजन कर दिया जाता है। नाटक की एक विधा एकांकी का आज अधिक प्रचलन है। कभी-कभी पद्य-नाटक या संगीत नाटक भी देखने को मिलता है। पद्य-नाटक या संगीत-नाटक को साहित्य की स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह नाटक का रूप नहीं है।

गद्य-साहित्य की एक अन्य विधा आलोचना है। आलोचना में साहित्यकार को कलात्मक अभिव्यक्ति का अवसर कम मिलता है। इस विधा के द्वारा गद्य

और गद्य, दृश्य और श्रव्य साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना को समीक्षा भी कहते हैं। आलोचक या समीक्षक आलोच्य कृति के गुण-दोष का विवेचन करने का कार्य करता है। आलोचना के द्वारा वह साहित्य का नियमन करता है। अपने आदर्श से साहित्य च्युत न होने पाए, इस दृष्टि से आलोचक की आलोचना अंकुश का कार्य करती है। आलोचना में भी आलोचक अपनी शैली के कारण अपना व्यक्तित्व प्रकट करता है। इसीलिए इसे भी साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया है अन्यथा गद्य की यह विधा शास्त्र के रूप में मान्य होती। साहित्य की विविध विधाओं को समझने के लिए निम्नांकित तालिका पर ध्यान देना उचित होगा :

तालिका १

साहित्य की विधाओं का प्राचीन वर्गीकरण
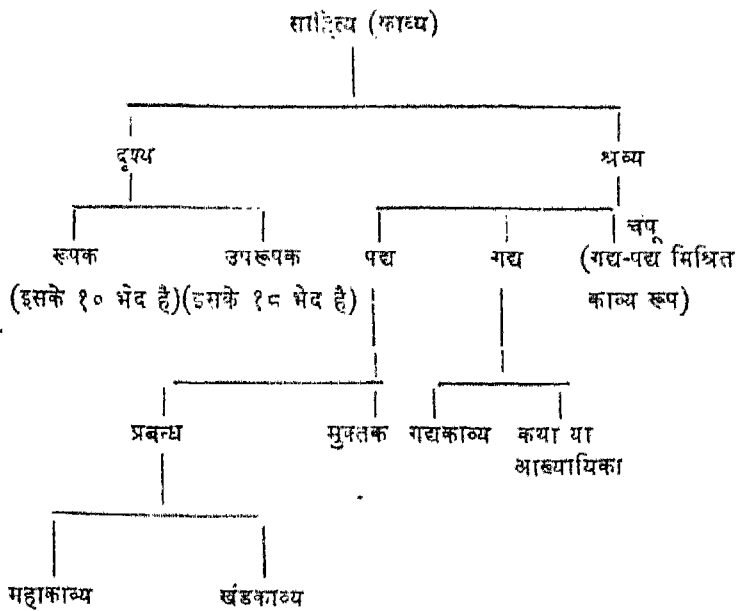
तालिका २ में साहित्य के आधुनिक स्वरूपों को प्रदर्शित किया गया है।

तालिका २

साहित्यिक विधाओं का आधुनिक वर्गीकरण

- साहित्य
  - पद्य
    - प्रबन्ध
      - महा-काव्य
      - खंड-काव्य
    - वतक
      - छन्दबद्ध, छन्दमुक्त, विविध
      - पद, गीत, विविध
  - गद्य
    - नाटक
      - नाटक
      - एकांकी
      - विविध
    - कथासाहित्य
      - उपन्यास
      - कहानी
    - गद्य के अन्य रूप
      - निबंन्ध
      - संस्मरण
      - रेखाचित्र
      - रिपोर्ताज
      - आत्मकथा, जीवनी
      - आलोचना
      - डायरी, पत्र, विविध
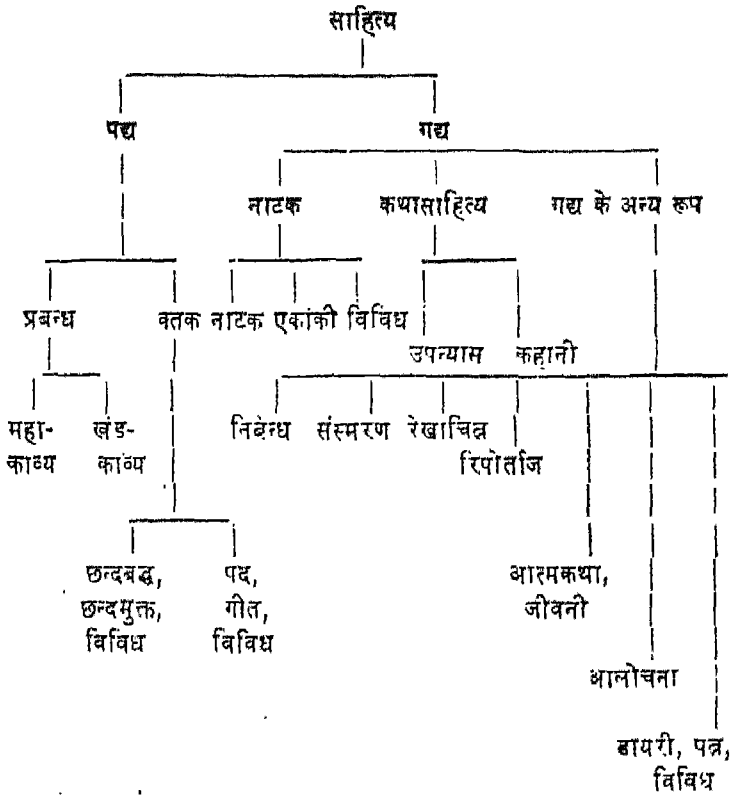
है, किन्तु वर्तमान समय में साहित्यिक विधाओं के स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन आता जा रहा है। आज कविता केवल पद्यात्मक ही नहीं है। नई कविता में छंद-बंधन और गेयता नहीं दिखाई पड़ती,' फिर भी नई कविता का अपना गौरव मान्य है। रूपक और नाटक भी आज मात्र दृश्य काव्य के रूप में नहीं हैं। उनका पठ्य रूप भी आज प्रतिष्ठित है। रेडियो रूपक श्रव्य साहित्य के रूप में विद्यमान है। इन्हीं कारणों से आज दृश्य-श्रव्य या गद्य-पद्य की स्थूल विभाजन रेखा से साहित्य को वर्गीकृत करना ठीक नहीं समझा जाता है।

४

कविता

'कविता' शब्द से सामान्यतः पद्यमयी रचना का ही बोध होता है। लय, सुर, तुक आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें धारण कर कविता गद्य से अलग अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। कविता का 'रस' तत्त्व पाठक को आनन्द प्रदान करता है। दृश्य जगत के सत्य को कवि सुन्दर और मंगलकारी बनाकर कविता के माध्यम से सहृदय तक प्रेषित करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कविता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा है :

'कविता का लोक प्रचलित अर्थ वह वाक्य है जिसमें भावावेग हो, कल्पना हो, पद-लालित्य हो और प्रयोजन की सीमा समाप्त हो चुकी हो।'

कविता में राग तत्त्व की प्रधानता होती है, उसमें मधुर जिज्ञासा उत्पन्न करने और उसे तृप्त करने की शक्ति रहती है। 'कोलरिज' ने कविता को आवेगमयी भाषा की ऐसी ही रचना कहा है। विभिन्न विद्वानों के विचारों से अवगत होने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि कविता ललित एवं लयपूर्ण पदों से युक्त वह रचना है, जिसमें भावावेग और कल्पना की प्रधानता होती है और समाज का सूक्ष्म निरीक्षण कवि के सत्य का रूप धारण कर लोक का कल्याण एवं मंगल का विधान करता है।

कविता विविध रूपों में लिखी गई है। राग-रागनियों से युक्त संगीत की ध्वनि से भरी हुई कविताओं का लेखन भक्तिकालीन कवियों ने किया। सूर के पद इसी प्रकार के हैं। छंद-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करने वाली कविताएँ हिन्दी साहित्य की थाती हैं। दोहा, सोरठा, इन्द्र वज्रा, उपेन्द्र वज्रा आदि छंदों में लिखी गई रचनाओं से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है। वर्तमान

युग में छंद-बन्धन से मुक्त, तुकविहीन नई कविताएँ भी लिखी जा रही हैं। इस प्रकार कविता के विविध रूपों से हमारा साहित्य भरा हुआ है।

कविता की श्रेणी में महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गीत, प्रगीत, पद आदि की गणना होती है। कविता की इन सभी विधाओं में साहित्य के चार तत्त्वों—भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली—का पूर्ण योग रहता है। भाव तत्त्व कविता में आनन्द तत्त्व को उभार कर उसे लोकोत्तर आनन्ददायक बना देता है। यही भाव तत्त्व कविता में रस बनकर व्याप्त रहता है। काव्यानंद ही रस कहलाता है। रस को ही काव्य की आत्मा कहा गया है।

वर्तमान समय में विचारकों का एक वर्ग रस की अपेक्षा बुद्धि तत्त्व को अधिक महत्त्व दे रहा है। 'नई कविता' में बुद्धि तत्त्व को ही अधिक मान्यता प्राप्त है। कविता की उत्कृष्टता के लिए किसी एक तत्त्व की प्रधानता का आग्रह ठीक नहीं कहा जा सकता। अच्छी कविता के लिए चारों तत्त्वों का उचित समन्वय मान्य है। भाव तत्त्व, कल्पना तत्त्व, बुद्धि तत्त्व और शैली तत्त्व का उचित सामंजस्य अच्छी कविता के लिए आवश्यक होता है।

कविता के भेद

प्राचीन आचार्यों के अनुसार कविता के दो भेद किए गए हैं—

१. प्रबंध काव्य

२. मुक्तक काव्य

प्रबन्ध काव्य में शृंखलाबद्धता होती है। उसमें आद्यान्त एक तारतम्य रहता है, प्रबन्ध काव्य के सभी पद एक दूसरे से अनुस्यूत रहते हैं। कथानक का सूत्र अपनी धाराबद्धता से जब घटनाक्रम को गूँथता हुआ वर्णित होता है तब कविता को 'प्रबन्ध काव्य' की संज्ञा प्राप्त होती है। प्रबन्ध का अर्थ होता है—अच्छी प्रकार से बंधा हुआ। 'रामचरित मानस' में राम की जीवनगाथा का, 'जयद्रथ-वध' में जयद्रथ के वध की कथा का क्रमबद्ध रूप में वर्णन किया गया है। इसीलिए इन रचनाओं को प्रबन्ध काव्य की श्रेणी में स्थान प्राप्त है।

मुक्तक रचना में कथा-सूत्र का बंधन नहीं रहता है। कथा-प्रसंग से मुक्त किसी एक भाव को व्यक्त करने वाली रचना को मुक्तक कहते हैं। यह रचना स्वयं में ही स्वतंत्र और पूर्ण होती है। इसे **स्फुट काव्य** भी कहा जाता है। कबीर और सूर के पदों, बिहारी के दोहों तथा आधुनिक कवियों की स्फुट कविताओं को मुक्तक रचना की कोटि में ही गिना जाता है।

प्रबंध और मुक्तक का भेद निरूपित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-

प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है, इसमें तो रस के ऐसे छीटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है'।

प्रबन्ध काव्य :

प्रबन्ध काव्य के दो भेद किए गए है—(क) महाकाव्य और (ख) खण्डकाव्य। कला पक्ष की दृष्टि से इन दोनों मे उतना अंतर नहीं है जितना विषय की दृष्टि से। महाकाव्य मे नायक के सम्पूर्ण जीवन की गाथा का और खण्डकाव्य में उसके खण्डजीवन या उसके जीवन के किसी विशेष अवसर का क्रमबद्ध रूप में वर्णन होता है। महाकाव्य का आकार बड़ा होने के कारण उसमें वर्णन के विस्तार हेतु अधिक अवकाश रहता है।

महाकाव्य का लक्षण निम्नांकित रूप में भारतीय आचार्यों ने प्रस्तुत किया है—

१. महाकाव्य एक सर्गबद्ध रचना है। इसमें कम से कम ८ सर्ग होते हैं।
२. प्रत्येक सर्ग में प्रयुक्त छंद आरम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार का होता है किन्तु सर्ग के अन्त में छंद बदल जाता है। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होती है।
३. महाकाव्य का नायक धीरोदात्त और कुलीन होता है।
४. महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक प्रधान होता है। अन्य रस गौण होते हैं।
५. महाकाव्य में सभी सन्धियों को स्वीकृति प्राप्त होती है। इन्हीं के आधार पर कथा का सगठन किया जाता है।
६. महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक, पौराणिक या लोक-विश्रुत होती है।
७. महाकाव्य में प्रकृति, ऋतु, नगर, वन, पर्वत आदि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन होता है।
८. महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा का विधान होता है।

उपर्युक्त लक्षणों में नायक का धीरोदात्त होना भी स्वीकृत है। वर्तमान समय में यह लक्षण शिथिल हो गया है। महाकाव्य के नायक के रूप में आज किसी भी व्यक्ति का चयन हो सकता है, किन्तु यह आवश्यक है कि वह जातीय और सांस्कृतिक चेतना से जुड़ा हुआ हो।

प्राचीन आचार्यों ने रससिद्धि को महाकाव्य का उद्देश्य माना है। इसी दृष्टि से उन लोगों ने शृंगार, वीर या शान्त रसों में से किसी एक की प्रधानता को एक आवश्यक गुण के रूप में निरूपित किया है। आज उद्देश्य के रूप में महान और उदात्त भावनाओं के प्रकाशन को भी महत्त्व दिया जा रहा है। इसीलिए महाकाव्य में जातीय संस्कृति, जातीय चेतना, राष्ट्रीय भावना आदि का कथन करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा में चंदबरदायी कृत 'पृथ्वीराज रासो' को प्रमुख स्थान प्राप्त है। जायसी कृत 'पद्मावत' और गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित' मानस हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकाव्य हैं। आधुनिक काल के काव्य-ग्रंथों में 'प्रियप्रवास', साकेत', 'कामायनी', उर्वशी' आदि को महाकाव्य की कोटि में रखा गया है।

खण्डकाव्यों में नायक के खण्डजीवन की गाथा क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत की जाती है। इसमें एक देश-काल की घटना का अनुसरण होता है। खण्डकाव्यों में भी सर्ग होते हैं पर उनकी संख्या ८ से कम भी हो सकती है। प्रत्येक सर्ग के लिए खण्डकाव्यों में छंद का बन्धन भी स्वीकृत होता है किन्तु सर्ग के अन्त में छंद का परिवर्तन आवश्यक नहीं होता। खण्डकाव्य में भी प्रकृति का चित्र उतारा जाता है, इसमें भी मंगलाचरण प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु इन सबका होना खण्डकाव्य के लिए आवश्यक नहीं माना गया है। इतिवृत्तिमूलकता ही खण्डकाव्य की प्रमुख विशेषता है। हिन्दी के प्रमुख खण्डकाव्य हैं—जयद्रथ-वध, पथिक, नहुष, कुणाल, प्रयाण, भोजराज आदि।

मुक्तक : (पद, गीत, प्रगीत)

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मुक्तक [illegible] में पूर्ण रचना है। इसमें कथा-सूत्र की धारावाहिकता नहीं होती है। ये मुक्तक रचनाएँ जिन्हें गाया जा सकता है, गेय मुक्तक कहलाती है, किन्तु जिन्हें गाया नहीं जा सकता है, उन्हें पाठ्य या श्रव्य मुक्तक कहते हैं। इस प्रकार मुक्तक गेय और पाठ्य दो प्रकार का होता है। गेय मुक्तक की श्रेणी में पद, गीत, प्रगीत सभी को रखा जा सकता है। श्रव्य या पाठ्य मुक्तक कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनकी वृत्ति उपदेशात्मक होती है। ऐसे मुक्तकों को नीति-विषयक मुक्तक कहते हैं। रहीम के दोहे इसी प्रकार के हैं। बाबा दीनदयाल की अन्योक्तियाँ भी इसी श्रेणी में स्थान पाती हैं। श्रव्य मुक्तक छंद-शास्त्र का अनुसरण कर मात्रिक व वार्णिक दो पद्धतियों पर लिखा जाता है। जब छंद-शास्त्र के बंधन को यह स्वीकार नहीं करता है तब उसे स्वतंत्र मुक्तक कहते है। 'मुक्त छंद कविता' व 'नई कविता' इसी श्रेणी में आती हैं।

निम्नांकित तालिका से कविता के प्रमुख भेदों का परिचय दिया जा रहा है :
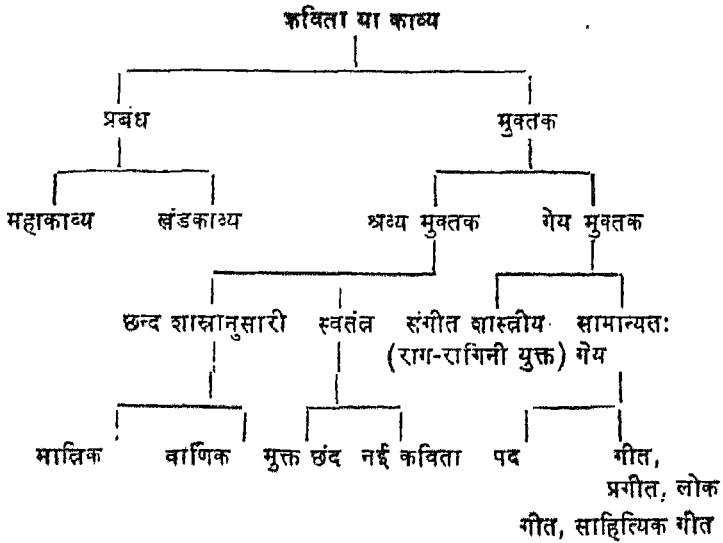
कुछ मुक्तक पाश्चात्य शैली पर भी लिखे गए हैं यथा, चतुर्दशपदी, शोक गीत, कोरस आदि।

संगीत ध्वनि की उत्कृष्टता और भावावेग की तीव्रता का गुण धारण कर लेने पर मुक्तक प्रगीत की संज्ञा प्राप्त करते हैं। संगीतात्मक पद्धति पर गाए जाने की क्षमता के कारण ही इन्हें प्रगीत कहा गया है। अंग्रेजी में इन्हें **लिरिक** कहते हैं। प्रगीतात्मक कविताओं में कवि अपनी व्यक्तिगत भावनाओं, प्रसन्नता, पीड़ा, चिन्ता आदि को व्यक्त करता है। प्रगीत की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

'भावावेग की तीव्रता से निकली हुई गेय काव्य-ध्वनि प्रगीत है।' प्रगीत को ही गीत भी कहते हैं। इसके मुख्यत: दो स्वरूप हैं--(१) लोक गीत (२) साहित्यिक गीत। लोक गीत को जन गीत भी कहा जा सकता है। साहित्यिक गीतों में लोक गीतों की अपेक्षा कलात्मकता अधिक रहती है। विभिन्न प्रदेशों की भाषा में उस प्रदेश का लोक गीत गाया जाता है। इन लोक गीतों में मर्मस्पर्शिता अधिक होती है। लोक गीत विभिन्न अवसरों के अनुकूल गाए

आते हैं। इनकी धुन का माधुर्य साहित्यकारों को भी प्रभावित करता रहा है। लोक गीतों की शैली में साहित्यिक गीत भी लिखे गए है। आज इस प्रकार के साहित्यिक गीत प्रचुर मात्रा में लिखे जा रहे हैं। साहित्यिक गीतों में भाव तत्त्व और बुद्धि तत्त्व की प्रधानता रहती है। कविता की भावभूमि पर गेय तत्त्व का संयोजन कर साहित्यकार साहित्यिक गीतों की रचना करता है। महादेवी वर्मा, जयशंकर प्रसाद, निराला और पंत के साहित्यिक गीतों का गीत तत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

५

रस

काव्य को पढ़ने-सुनने या नाटक को देखने से हमें विशेष प्रकार के आनन्द की प्राप्ति होती है। इसी आनन्द को रस कहते हैं। जो लोग रस प्राप्त करते हैं, उन्हें सहृदय या सामाजिक कहा जाता है। इस प्रकार पाठक, श्रोता और दर्शक सामाजिक या सहृदय कहलाते हैं।

रस या आनन्द की अनुभूति में हमारी प्रवृत्तियाँ सहायक होती हैं। विभिन्न स्थितियों में हमारे मन की अनेक वृत्तियाँ बनती रहती हैं। चित्त की इन्हीं वृत्तियों को भाव कहते हैं। आचार्यों ने भावों को दो वर्गों में बाँटा है—(१) स्थायी भाव और (२) संचारी भाव।

स्थायी भाव

मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ स्थायी भाव के रूप में जानी गई हैं। इनकी संख्या नौ हैं। ये स्थायी भाव प्रत्येक मनुष्य के मन में सोए रहते हैं और अनुकूल परिस्थिति में जागृत होते हैं। नौ स्थायी भावों रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम अर्थात् निर्वेद के साथ शिशु के प्रति वत्सल (ममता) को संयुक्त कर लेने पर इनकी संख्या १० हो गई हैं। इन्हीं १० स्थायी भावों से १० प्रकार के आनन्द प्राप्त होते हैं। इसीलिए १० स्थायी भावों से १० रसों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। इनका उल्लेख इस प्रकार है—

स्थायी भाव	रस	स्थायी भाव	रस
१. रति	शृंगार	२. हास	हास्य
३. शोक	करुण	४. क्रोध	रौद्र

स्थायी भाव	रस	स्थायी भाव	रस
५. उत्साह	वीर	६. भय	भयानक
७. जुगुप्सा (घृणा)	वीभत्स	८. विस्मय	अद्भुत
९. शम या निर्वेद	शान्त	१०. वत्सल	वात्सल्य

संचारी भाव

दस स्थायी भावों के अतिरिक्त बहुत से अन्य ऐसे भाव भी हैं जो यथा अवसर उत्पन्न और शमित होते रहते हैं। इनका यथासमय स्थायी भावों के साथ संचरण होता है। इसीलिए इन्हें **संचारी भाव** कहते हैं। इन्हें **व्यभिचारी भाव** भी कहा जाता है। संचारी या व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ मानी गई है। ये हैं—

(१) निर्वेद (२) ग्लानि (३) शंका (४) असूया (५) मद (६) श्रम (७) आलस्य (८) दैन्य (९) चिन्ता (१०) मोह (११) स्मृति (१२) धृति (१३) क्रीड़ा (१४) चपलता (१५) हर्ष (१६) आवेग (१७) जड़ता (१८) गर्व (१९) विषाद (२०) औत्सुक्य (२१) निद्रा (२२) अपस्मार (मिरगी) (२३) स्वप्न (२४) विबोध (जागना) (२५) अमर्ष (२६) अवहित्थ (गोपन) (२७) उग्रता (२८) मति (२९) व्याधि (३०) उन्माद (३१) त्रास (३२) वितर्क (३३) मरण ।

इन संचारी भावों से स्थायी भाव पुष्ट होते हैं।

सहृदय के स्थायी भाव को उद्बुद्ध कर उसे रस की स्थिति में लाने वाली सामग्री को **रस की सामग्री** कहते हैं। नायक-नायिका, उनके हाव-भाव प्रकृति-परिवेश आदि रस की सामग्री के रूप में मान्य हैं। इस रस-सामग्री को तीन श्रेणियों में रखा गया है—

(१) विभाव (२) अनुभाव (३) संचारी भाव ।

इन्हीं तीनों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में एक सूत्र प्रस्तुत किया है —

'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) : भावों को उत्पन्न या जागृत करने वाले विशिष्ट बाह्य कारण ही विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं :

(१) आलम्बन विभाव (२) उद्दीपन विभाव ।

जिस व्यक्ति के मन का स्थायी भाव जागृत होकर रस बनता है, उसे आश्रय कहते है। आश्रय का स्थायी भाव जिस वस्तु या व्यक्ति को देखकर जागृत होता है, उसे आलम्बन कहते है। आलम्बन के कार्य और उसकी चेष्टाओं को उद्दीपन विभाव कहा जाता है। एक उदाहरण से यह अधिक स्पष्ट होगा।

परशुराम लक्ष्मण को देखकर क्रुद्ध होते हैं। ऐसी दशा में परशुराम आश्रय हैं और लक्ष्मण आलम्बन हैं। लक्ष्मण की बातचीत और उनकी चेष्टाएँ जो परशुराम के 'क्रोध' स्थायी भाव को जागृत करने का कारण हैं, उद्दीपन विभाव है। आलम्बन को देखकर आश्रय में जिन भावों का उदय होता है, उन्हें प्रकृति तथा अन्य तत्त्व भी उद्दीप्त करते हैं। उद्दीप्त करने वाली वस्तुओं या परिस्थितियों को उद्दीपन विभाव माना जाता है। इस प्रकार उद्दीपन मानव सम्बन्धी भी होता है और प्रकृति सम्बन्धी भी।

अनुभाव

अनुभाव आश्रयगत होते हैं। अनुभाव आश्रय के भावों की सूचना देने वाले शारीरिक विकार होते हैं। इनकी संख्या ८ है—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, विवर्णता, अश्रु और प्रलाप। ये ऐसे अनुभाव हैं जिनके द्वारा आश्रय अपने मनोभावों की सूचना देता है।

रस-निष्पत्ति

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से रस की निष्पत्ति होती है, इस कथन की परीक्षा शृंगार रस के संदर्भ से की जा रही है—

नायक आश्रय है। उसके मन में रति स्थायी भाव सुषुप्तावस्था में विराजमान है। नायिका को आलम्बन रूप में देखकर आश्रय के रति (स्थायी भाव) को जागृति प्राप्त होती है। नायक ने नायिका को उपवन में देखा है। उपवन का परिवेश उसके रति भाव को पुष्ट करने में सहायक होता है। यही उद्दीपन विभाव है। अब नायक का रति भाव शृंगार रस की कोटि में पहुँचने की दिशा में उमड़ता है। इसका पता नायक के रोमांच से चलता है। रोमांच ही अनुभाव है। नायक में नायिका की प्राप्ति की चिन्ता संचरित होती है। यह संचारी भाव भी उसमें संचरित हो रहा है। इन सबके सम्मिलित रूप से नायक में प्रेम जागृत हुआ है, यही शृंगार रस है।

रस की यही प्रक्रिया दसों रसों में चलती रहती है। इसी प्रक्रिया को सूचित करने के उद्देश्य से कहा गया है :—

'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।'

शृंगार ही रसराज है : दस रसों की चर्चा की जा चुकी है। भवभूति ने भाव की सात्विकता और सहानुभूति तत्त्व के आधार पर करुण रस को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, किन्तु रसों में शृंगार रस को रसराज माना जाता है। इसके प्रमुख कारण निम्नांकित हैं :

शृंगार रस का व्यापक प्रभाव है। इसके दो पक्ष हैं (क) संयोग (ख) वियोग या विप्रलम्भ। इन दो पक्षों के कारण सभी प्रकार की सुखद और दुखद अनुभूतियों का समावेश शृंगार-रस में मिलता है। शृंगार रस में ३३ संचारी में से २६ का उपयोग होता रहता है। इस रस की अधिकाधिक रसों के साथ मैत्री है। इन्हीं कारणों से शृंगार को रसराज के रूप में मान्यता दी जाती है।

उदाहरणों के द्वारा १० रसों का परिचय प्राप्त कर लेना संगत है। अतः निम्नांकित उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

संयोग शृंगार

(१) बूझत स्याम, कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी तू बेटी ? देखी नहीं कहूं ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रजतन आवति। खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनती रहति श्रवननि नंद-ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हारो कहा चोरि हम लै हैं? खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी॥

(२) चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किसोर मनचीता॥
लता ओट तब सखिन लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
अधिक स्नेह देह भई भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक-कपाट सयानी॥

विप्रलंभ या वियोग शृंगार

'कहेउ राम वियोग तब सीता। मों कहँ सकल भए विपरीता॥
नूतन किसलय मनहूँ कृसानू। काल निसा सम निसि, ससि, भानू॥

संयोग शृंगार के प्रथम उदाहरण में कृष्ण आश्रय, राधा आलम्बन और ब्रज में राधा से वार्ता का प्रसंग तथा वहाँ का परिवेश उद्दीपन है। रति स्थायी भाव स्मरण संचारी से युक्त होकर संयोग शृंगार प्रगट करता है। उदाहरण

संख्या (२) में सीता आश्रय हैं और राम आलम्बन हैं, लता-द्रुम आदि उद्दीपन हैं। 'देह भई भोरी' अनुभाव है। इन सबके योग से संयोग शृंगार पुष्ट हुआ है।

विप्रलंभ शृंगार के उदाहरण में राम आश्रय और सीता आलम्बन हैं। किसलय, ससि-भानू आदि उद्दीपन हैं। प्रलाप अनुभाव है। स्मृति संचारी का संयोग प्राप्तकर वियोग शृंगार फलित हुआ है।

हास्य रस : विकृत वेशभूषा संपन्न व्यक्ति को देखकर हास्य रस की उत्पत्ति होती है।

> जेहि दिसि बैठे नारद फूली।
> सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
> पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं।
> देखि दसा हर-गन मुसिकाहीं॥

यहाँ हर-गन आश्रय है और नारद मुनि आलम्बन है। उनका उकसना व विश्वमोहिनी का उनकी ओर भूलकर भी न देखना ही उद्दीपन है। हर-गन का मुस्काना अनुभाव है। हर्ष-चपलता आदि संचारियों का योग है। इन सबसे युक्त हास (स्थायी भाव) ने हास्य रस का रूप लिया है।

करुण रस : इष्ट-नाश या प्रियजन की पीड़ा से होने वाला शोक भाव ही रस रूप में परिणत होने पर करुण रस कहलाता है।

> उहाँ राम लछमनहिं निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी॥
> अर्ध रात गई कपि नहिं आयउ। राम उठाय अनुज उर लायउ॥
> सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तब मृदुल सुभाऊ॥
> सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
> बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥

यहाँ स्थायी भाव शोक है। राम आश्रय और लक्ष्मण आलम्बन हैं। कपि का न आना, अर्ध रात्रि का हो जाना आदि उद्दीपन हैं। स्रवत सलिल और प्रलाप अनुभाव हैं। स्मृति संचारी है। इन सबके योग से करुण रस की निष्पत्ति हुई है।

रौद्र रस : क्रोध स्थायी भाव से रौद्र रस की उत्पत्ति होती है।

> श्री कृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
> सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे॥
> 'संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।'
> करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठ कर खड़े॥

उस काल मारे क्रोध के तन काँपने उनका लगा ।
मानो हवा के वेग से सोता हुआ सागर जगा ।।

यहाँ स्थायी भाव क्रोध है । अर्जुन आश्रय है । शत्रु पक्ष आलम्बन है । श्री कृष्ण के वचन उद्दीपन हैं । क्रोधपूर्ण घोषणा और शरीर का काँपना अनुभाव हैं तथा आवेग, चपलता और उग्रता संचारी भाव के रूप में संचरित हैं । इस प्रकार रौद्र रस का परिपाक है ।

वीर रस : वीर चार प्रकार के होते हैं (१) युद्धवीर (२) दयावीर (३) दानवीर (४) धर्मवीर । वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है । युद्धवीर के प्रसंग में वीर रस का उदाहरण देखिए--

मैं सत्य कहता हूँ सखे सुकुमार मत जानो मुझे ।
यमराज से भी युद्ध में प्रस्तुत सदा मानो मुझे ।।
है और की तो बात ही क्या गर्व मैं करता नहीं ।
मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं ।।

इस प्रसंग में कौरव-दल को पराजित करने का 'उत्साह' स्थायी भाव है । अभिमन्यु आश्रय और कौरव-पक्ष आलम्बन हैं । चक्रव्यूह और प्रतिपक्ष की ललकार उद्दीपन है । अभिमन्यु की उक्तियाँ अनुभाव रूप हैं । गर्व और औत्सुक्य का संचारी भावों के योग से 'वीर रस' प्रकाशित है ।

भयानक रस : किसी भयानक वस्तु या घटना के दर्शन अथवा श्रवण से प्राप्त भय-भावना के कारण भयानक रस की उत्पत्ति होती है । भयानक रस का स्थायी भाव भय है ।

एक ओर अजगरहिं लखि, एक ओर मृगराय ।
विकल बटोही बीच ही पर्‌यो मूरछा खाय ।।

इस प्रसंग में बटोही अर्थात् यात्री आश्रय है । अजगर और सिंह आलम्बन हैं तथा उनका व्यापार (चलना, यात्री की ओर देखना) व पथ की भयंकरता उद्दीपन हैं। बटोही की मूर्छा अनुभाव है तथा स्वेद, कम्प, रोमांच आदि संचारी भावों का सचरण हुआ है । इस प्रकार भयानक रस की उत्पत्ति हुई है ।

वीभत्स रस : जुगुप्सा या घृणा स्थायी भाव परिणत होकर 'वीभत्स' रस बनता है ।

सिर पर बैठो काग, आँख दोउ खात निकारत ।
खींचत जीभहिं स्यार, अतिहि आनंद उर धारत ।।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि-खोदि कै माँस उपारत ।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि कै खात बिदारत ।।

यहाँ श्मशान घाट पर स्थित राजा हरिश्चन्द्र आश्रय हैं। शव आलम्बन है तथा काग, गिद्ध आदि की क्रियाएँ उद्दीपन हैं। अनुभाव (थूकना, मुँह बिचकाना) व्यक्त नहीं है। राजा हरिश्चन्द्र में अनुभाव और ग्लानि संचारी भाव अपना कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार वीभत्स रस पुष्ट हुआ है।

अद्भुत रस : अद्भुत रस के मूल में विस्मय की स्थिति रहती है। 'विस्मय' स्थायी भाव ही अद्भुत रस के रूप में परिवर्तित होता है।

सखी दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित श्रीभ्राता ॥
फिर चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर वेषा ॥
जहँ चितवहि तहँ प्रभु आसीना। सेवहि सिद्ध मुनीस प्रवीना ॥

इन काव्य पंक्तियों में ग्रामीण स्त्रियाँ आश्रय हैं। राम, जानकी और लक्ष्मण की त्रिमूर्ति आलम्बन है। जहाँ देखती हैं वहीं इनका दीख पड़ना उद्दीपन है। देखने वाली स्त्रियों का स्तंभ और रोमांच अनुभाव है। भ्रांति, हर्ष, आवेग आदि संचारियों के द्वारा 'अद्भुत रस' की निष्पत्ति हुई है।

शान्त रस : 'शम' स्थायी भाव से शान्त रस की उपलब्धि होती है।

मन पछतैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरि पद भजु, करम बचन अरु ही ते।
सुत, बनितादि जान स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते।
अंतहुं तोहि तजेंगे पामर, तू न तजे अब ही ते।
अब नाथहिं अनुराग जागु, त्यागु दुरासा जी तै।
बुझै काम-अगिनी तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी तें।

यहाँ स्थायी भाव 'शम' अर्थात् वैराग्य है। भक्त या विरक्त व्यक्ति आश्रय है तथा संसार की नश्वरता आलंबन है। सम्बन्धियों का व्यवहार ही उद्दीपन है और कथन तथा चेतावनी अनुभाव रूप में स्थित है। धृति, विमर्श आदि संचारी भाव हैं।

वात्सल्य रस : संतान के प्रति स्नेह और ममता से वात्सल्य रस की निष्पत्ति होती है।

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाय के नाचत मातु उर्ध मन मोद भरैं ॥

इन पंक्तियों में वात्सल्य रस व्यंजित है। माताएँ आश्रय हैं और राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आलंबन हैं। उनका ससि माँगना प्रतिबिंब देखकर डरना आदि उद्दीपन हैं। माताओं का आनन्द भाव अनुभाव है और हर्ष, गर्व आदि संचारी भावों के योग से वात्सल्य रस की धारा प्रवाहित है।

६

शब्द-शक्ति

मानव समाज में पारस्परिक व्यवहार के लिए भाषा का माध्यम स्वीकार किया गया है। भाषा के द्वारा ही मनुष्य अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है पर सार्थक शब्दों के उचित प्रयोग से ही भाषा अपना कार्य पूरा करती है। अत: भाषा की इकाई के रूप में शब्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शब्द में निहित अर्थ को वक्ता और श्रोता, लेखक और पाठक सभी जानते हैं। इसीलिए एक शब्द किसी एक वस्तु का बोध कराने की शक्ति रखता है तो दूसरा शब्द किसी दूसरी वस्तु का। वस्तु-विशेष का ज्ञान कराने की शक्ति शब्द में विद्यमान रहती है। कलम शब्द में एक विशिष्ट वस्तु लेखनी का बोध कराने की शक्ति है। उससे पुस्तक का बोध नहीं हो सकता। इसी प्रकार पुस्तक शब्द से पुस्तक का ही बोध संभव है, अन्य वस्तु का नहीं। शब्द में अर्थ सूचित करने की क्षमता को ही शब्द की शक्ति कहा जाता है। शब्द-शक्ति का ज्ञान भाषा-ज्ञान के लिए आवश्यक है।

शब्द अर्थ को तीन प्रकार से ग्रहण करता है। कुछ शब्दों के अर्थ किसी नियम अथवा प्रयोग द्वारा निश्चित हो गए होते हैं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन लक्षित नहीं होता है। इस प्रकार के अर्थ को **मुख्यार्थ** कहते हैं। **मुख्यार्थ** के अन्य नाम भी हैं। इसे **वाच्यार्थ** या **अभिधेयार्थ** के रूप में भी जाना जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

'मोहन रोटी खाता है।'

इस वाक्य में **मोहन** का अर्थ मोहन नामधारी व्यक्ति है। **रोटी** का अर्थ खाई जाने वाली एक निश्चित वस्तु है। **खाता है** से खाने की निश्चित क्रिया

का बोध हो रहा है। इस प्रकार पूर्व निर्धारित अर्थ अर्थात् मुख्यार्थ को प्रकट करने वाली शब्द-शक्ति को **अभिधा** शक्ति कहते हैं। अभिधा शक्ति के आधार पर ही मुख्यार्थ को अभिधेयार्थ भी कहा जाता है।

शब्द जब अपने पूर्व निर्धारित अर्थ को सूचित करने की अपेक्षा अपने मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य संगत अर्थ को लक्ष्य करने लगता है, तब उस लक्षित अर्थ को **लक्ष्यार्थ** कहते हैं। यह लक्ष्यार्थ अन्य संगत अर्थ को लक्ष्य करने की शक्ति के कारण प्राप्त होता है। शब्द की इस शक्ति को **लक्षणा** शक्ति कहते हैं। निम्नांकित उदाहरण से लक्ष्यार्थ का परिचय मिलता है—

'मोहन अभिमान में **डूब** गया है।'

इस वाक्य में **डूब गया** का प्रयोग द्रष्टव्य है। डूबना का मुख्यार्थ 'जल में विलीन होने' का बोध कराता है। इस वाक्य में जल का कहीं कथन नहीं है। डूबना के मुख्यार्थ से सम्बन्धित संगत अर्थ लक्षित होने पर यह बोध होता है कि इस वाक्य में डूबना, भर जाने की स्थिति को लक्ष्य कर रहा है। अतः वाक्य का अर्थ हुआ 'मोहन अभिमान से भर गया है। इस प्रकार 'डूबना' का 'भर जाना' अर्थ लक्षणा शक्ति के द्वारा ही प्रस्तुत हुआ है।

जब शब्द से मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त तीसरा ही अर्थ सूचित होता है, तब इस तीसरे अर्थ को **व्यंग्यार्थ** कहते हैं। यह व्यंग्यार्थ शब्द की **व्यंजना शक्ति** के कारण प्रकट होता है। एक उदाहरण लीजिए—

'मुर्गे ने बाँग दे दी।'

इस वाक्य का अर्थ निकलता है—'सवेरा हो गया।' यह अर्थ न तो वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के मुख्यार्थ के रूप में है और न उनके लक्ष्यार्थ रूप में। इस अर्थ की प्राप्ति व्यंग्यार्थ रूप में ही हुई है और इसे प्रकाशित करने में व्यंजना शक्ति ने अपना प्रभाव दिखाया है।

इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि शब्द-शक्ति के तीन रूप हैं—

१. अभिधा शक्ति

२. लक्षणा शक्ति

३. व्यंजना शक्ति

इन शब्द-शक्तियों का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर इनके संबंध में कुछ विशिष्ट बातों की जानकारी कर लेना भी उचित है। अतः इनका पृथक-पृथक वर्णन किया जा रहा है।

अभिधा : पूर्व निर्धारित अर्थ का संकेत करने वाली शब्द-शक्ति को अभिधा और उससे व्यक्त होने वाले अर्थ को **अभिधेयार्थ** कहते हैं। अभिधेयार्थ या मुख्यार्थ का शब्द में निर्धारण कई साधनों से होता है। व्यवहार, आप्त वाक्य, कोश और व्याकरण ही वे मुख्य साधन हैं, जिनसे शब्द के अर्थ संकेतित होते हैं। मुख्यार्थ या अभिधेयार्थ को संकेतित करने वाला शब्द **वाचक शब्द** कहलाता है। वाचक शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) रूढ़ (२) यौगिक (३) योग रूढ़।

रूढ़ शब्द का खण्ड करने पर कोई अर्थ नहीं निकलता। जल, कमल आदि ऐसे ही शब्द हैं। इन शब्दों का न तो कोई खण्ड हो सकता है और न इनमें उपसर्ग या प्रत्यय का संयोग है। इनका विशिष्ट अर्थ पूर्व निर्धारित है। जल और कमल कहते ही 'पानी' और 'एक फूल' का बिम्ब सामने आ जाता है।

यौगिक शब्द का खण्ड किया जा सकता है। इसमें उपसर्ग, प्रत्यय आदि का योग रहता है। दासता, अनुचित आदि यौगिक शब्द हैं। इनका खण्ड करने पर दास+ता और अन्+उचित प्रकट होता है।

योगरूढ़ शब्द के भी खण्ड किए जा सकते हैं। योग-रूढ़ शब्द में एक से अधिक संयुक्त शब्द होते हैं, फिर भी इनसे रूढ़ अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। 'पंकज' शब्द में 'पंक' और 'ज' का योग है। इसका अर्थ पंक अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने वाला होता है, किन्तु इस यौगिक शब्द का भी अर्थ रूढ़ हो गया है और इस रूढ़ अर्थ में पंकज से केवल कमल का ही बोध होता है। ऐसे शब्दों को जो यौगिक होते हुए भी रूढ़ अर्थ प्रकट करते हैं, **योग-रूढ़** कहा जाता है।

कुछ वाचक शब्द एकार्थक होते हैं और कुछ अनेकार्थक। पुस्तक शब्द एकार्थक है। इसका एक ही अर्थ होता है, किन्तु 'गोली' शब्द अनेकार्थक है। गोली बन्दूक की भी हो सकती है और दवा की भी। 'टीका', 'कर' आदि अनेकार्थक शब्द हैं। संदर्भ से उनका अभिधेयार्थ प्रकट होता है। 'सरकार ने नए कर लगाए हैं' में 'कर' का अर्थ टैक्स है और 'तुम्हारे कर-कमलों से लिखी पंक्तियों का बड़ा मूल्य है, में 'कर' का अर्थ हाथ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द की अभिधा शक्ति विविध प्रकार [illegible] का संकेत करती है। नित्य व्यवहार में इसी शक्ति का उपयोग अधिक [illegible] है, किन्तु काव्य-जगत में अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना का [illegible] अच्छा माना जाता है।

[illegible]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मुख्यार्थ को छोड़कर उससे संबंधित

संगत अर्थ को संकेतित करने वाली शब्द शक्ति लक्षणा है । पूर्वोक्त 'अभिमान में डूबना' वाक्य में 'डूबना' शब्द का अर्थ 'भरा होना' लक्षणा शक्ति का ही परिणाम है । 'डूबना' का मुख्य अर्थ जब बाधित हो गया तब लक्षणा ने अपना कार्य किया और उसने लक्ष्यार्थ को सूचित किया ।

जब वक्ता मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से अपने भाव को पूरी तरह व्यक्त नही कर पाता, तब वह लक्षणा शक्ति का उपयोग करता है । इस प्रकार 'लक्षणा' के लिए तीन शर्तें मान्य हैं ।

१. मुख्यार्थ बाध,
२. मुख्यार्थ सम्बन्ध,
३. प्रयोजन रूढ़ि ।

लक्षणा के भेद : मुख्यार्थ बाध होने पर उससे संबद्ध दूसरा संगत अर्थ जब किसी धर्म या गुण के आधार पर व्यक्त होता है, तब **गौणी लक्षणा** होती है । 'चौकन्ना होना' में 'चौकन्ना' शब्द का मुख्यार्थ है—'चार कानों वाला' । इसका लक्ष्यार्थ 'सावधान' है । इन दोनों अर्थों पर ध्यान देने पर स्पष्ट होता है कि मुख्यार्थ के बाधित होने पर भी उसका लक्ष्यार्थ से सादृश्य संबंध है । इसीलिए यहाँ **गौणी लक्षणा** है ।

हम पुलिस को देखकर कहते हैं कि 'लाल पगड़ी' जा रही है । यहाँ 'लाल पगड़ी' शब्द का मुख्यार्थ बाधित हो गया है । उसका पुलिस अर्थ हमें लक्षणा शक्ति से ज्ञात हुआ है । 'लाल पगड़ी' और 'पुलिस' में किसी धर्म या गुण की समानता नहीं है । 'लाल पगड़ी' तो धारण की जाने वाली एक वस्तु है । पुलिस उसे धारण करने वाला व्यक्ति है । इस प्रकार यहाँ गुण-सादृश्य सम्बन्ध न होकर दूसरे प्रकार का सम्बन्ध उपस्थित है । ऐसी स्थिति में 'लाल पगड़ी' का लक्ष्यार्थ 'पुलिस' सूचित करने वाली शक्ति को **शुद्ध लक्षणा** कहते हैं ।

लक्षणा को प्रयोजन और उसकी रूढ़ स्थिति के आधार पर दो श्रेणियों में बाँटा गया है — (१) रूढ़ि लक्षणा (२) प्रयोजनवती लक्षणा । रूढ़ि लक्षणा में रूढ़ि के अनुसार लक्षणा होती है । रूढ़ि का अर्थ प्राचीन प्रयोग समझना चाहिए । एक उदाहरण लीजिए—

'तैमूर के आक्रमण का समाचार सुनकर सारा देश भयभीत हो उठा' । यहाँ 'सारा देश' का अर्थ 'सम्पूर्ण देशवासी' है । प्राचीन प्रयोग में ही 'देश' का 'देशवासी' अर्थ रूढ़ हो उठा है । यह अर्थ लक्ष्यार्थ होते हुए भी रूढ़ है । इसलिए यहाँ 'रूढ़ि लक्षणा' है ।

जब लक्षणा शक्ति का उपयोग प्रयोजन के अनुसार किया जाता है, तब 'प्रयोजनवती लक्षणा' सिद्ध होती है । 'काशी नगरी गंगा पर बसी है' में 'गंगा

पर' का सामान्य अर्थ 'गंगा की धारा पर' होता है, किन्तु कोई नगरी नदी की धारा पर नहीं बस सकती। यहाँ 'गंगा पर' से प्रयोजन है 'गंगा तट पर', इसलिए प्रयोजनवती लक्षणा के कारण इसका अर्थ हुआ 'काशी नगरी गंगा के तट पर बसी है'।

काव्य में दो वस्तुओं के बीच जब उपमा दी जाती है तब जिसकी उपमा दी जाती है उसे उपमेय और जिससे उपमा की जाती है उसे उपमान कहते हैं। उपमेय और उपमान दोनों का एक साथ कथन करने की क्रिया 'आरोप' कहलाती है। ऐसी स्थिति में सारोपा लक्षणा मान्य होती है।

जब केवल उपमान का कथन होता है और इस रूप में उपमान उपमेय पर छा जाता है तब साध्यवसाना लक्षणा मानी जाती है। अध्यवसान का अर्थ है 'छा जाना'। 'खेलते दो खंजन सुकुमार' में दो खंजन आँखों के उपमान हैं। इस कथन में उपमान तो कथित हुआ है पर उपमेय का कथन नहीं है। इसलिए यहाँ 'साध्यवसाना लक्षणा' है।

लक्षणा के विविध रूपों का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि लक्षणा के निम्नांकित भेद हैं—

१. गौणी लक्षणा और शुद्धा लक्षणा।
२. रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा।
३. सारोपा लक्षणा और साध्यवसाना लक्षणा।

व्यंजना

व्यंजना का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'प्रकाशित करना'। व्यंजक शब्द के वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से भिन्न तीसरे प्रकार का अर्थ प्रकाशित होने पर व्यंग्यार्थ माना जाता है। यह व्यंग्यार्थ व्यंजना शक्ति से ही प्रकाशित होता है। विद्यालय जाने वाले छात्र से यदि उसकी माता कहे,'नौ बज गए हैं'तो इसका अर्थ होगा : 'पाठशाला का समय हो गया है, तैयार हो जाओ।' यह अर्थ व्यंजना-शक्ति के उपयोग से ही सूचित होता है।

व्यंजना के दो मुख्य भेद हैं : (१) शाब्दी व्यंजना (२) आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना के पुनः दो रूप हो गए हैं' : (क) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना (ख) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना।

अनेकार्थी शब्दों से व्यंजित होने वाले कई अर्थों में से जब किन्हीं कारणों से एक विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है, तब दूसरे अर्थ का प्रकाशन अभिधामूला शाब्दी व्यंजना द्वारा ही होता है यथा—

'चिरजीवौ, जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥'

इस प्रसंग में राधा के साथ उनकी सखियों का व्यंग्य-विनोद ज्ञापित है। 'वृष-भानुजा' और 'हलधर के बीर' अनेकार्थी शब्द हैं। इनके निम्नांकित अर्थ विचारणीय हैं :

१. वृषभानुजा= (क) वृषभानु की पुत्री अर्थात् राधा
(ख) वृषभ-अनुजा अर्थात् गाय।

२. हलधर के बीर=(क) बलदाऊ के भाई अर्थात् कृष्ण
(ख) बैल के भाई अर्थात् बैल।

दोनों अर्थों में (क) भाग का अर्थ ही स्वीकृत है किन्तु व्यंग्य-विनोद में (ख) भाग का अर्थ शाब्दी व्यंजना के कारण प्रकाशित होता है। यहाँ यह अर्थ भी अभिधेयार्थ के रूप में प्राप्त है। इसीलिए 'गाय' और 'बैल' के रूप में प्राप्त अर्थ 'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना' का प्रतिफल है।

जब लक्ष्यार्थ के माध्यम से व्यंग्यार्थ की सूचना मिलती है तब लक्षणामूला व्यंजना होती है। लक्षणामूला व्यंजना का परिचय निम्नांकित पंक्ति से प्राप्त किया जा सकता है—

'काशी नगरी पवित्र गंगा पर बसी है।' इस संदर्भ में 'गंगा पर' बसने का अर्थ 'गगा तट पर बसना' लक्षणा शक्ति के द्वारा सूचित होता है। गंगा के साथ पवित्र का संयोग है। इस आधार पर व्यंजना निकलती है कि पवित्र गंगा के तट पर बसने के कारण काशी नगरी भी पवित्र है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ लक्षणा के माध्यम से व्यंग्यार्थ की उपलब्धि हुई है। इसीलिए इस कथन में लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना मान्य है।

आर्थी व्यंजना में हम किसी अर्थ के माध्यम से व्यंग्यार्थ पर पहुँचते हैं। इस कार्य में कभी तो अभिधेयार्थ सीधे सहायक होता है और कभी अभिधेयार्थ से लक्ष्यार्थ को ग्रहण करते हुए व्यंग्यार्थ पर पहुँचने की प्रक्रिया पूर्ण होती है। आर्थी व्यंजना के फलस्वरूप ही 'नौ बज गए' का व्यंग्यार्थ 'पाठशाला जाने का समय हो गया' सूचित होता है।

लक्षणा और व्यंजना शक्ति के प्रयोग से ही कवि अपने काव्य में भावों को सफलतापूर्वक गुम्फित करता है और चमत्कार उत्पन्न करता है। काव्य में इन शक्तियों का जितना ही अधिक प्रयोग होता है उतना ही रस-तत्त्व पुष्ट होता है। इन्हीं शब्द-शक्तियों के कारण 'वेदना गरजती' सुनाई पड़ने लगती है। व्यंग्यार्थ को पूरी तरह से समझने के लिए प्रसंग, कथन-पद्धति आदि पर ध्यान देना आवश्यक होता है।

७

अलंकार

अलंकार श्रृंगार का साधन होता है। अलंकार या आभूषण को धारण कर नायिकाएँ अपना श्रृंगार करती हैं। नायिकाओं की ही भाँति कविता-कामिनी का श्रृंगार भी काव्यालकारों के द्वारा होता है। आचार्य केशवदास ने ठीक ही कहा है—

भूषण बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त।

इस कथन की सच्चाई को समझने के लिए अलंकार विहीन उक्ति और अलंकार युक्त उक्ति को देखना उचित होगा—

१. यह चादर सफेद है।

२. यह चादर दुग्ध-फेन सम श्वेत है।

इन उक्तियों में उक्ति संख्या (१) में कोई अलंकार नहीं है। उक्ति संख्या (२) में 'दुग्ध-फेन सम' का प्रयोग कर अलंकार लाया गया है। दोनों उक्तियों में संख्या (२) की उक्ति अलंकार के प्रयोग से अधिक आकर्षक हो उठी है।

आलंकारिक छवि से युक्त कुछ काव्य पंक्तियों को उद्धृत किया जा रहा है —

१. तरणि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।

२. मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर,
लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही खोल पालों के पर।

उपर्युक्त उद्धरणों में संख्या (१) को देखने से स्पष्ट है कि 'त' वर्ण कई शब्दों का प्रथम वर्ण बनकर प्रयुक्त हुआ है। उसके इस प्रयोग से कविता में

सौन्दर्य आ गया है। इसी प्रकार उद्धरण संख्या (२) की प्रथम पंक्ति में 'म' वर्ण का सभी शब्दों के आरम्भ में प्रयोग हुआ है। इससे उस पंक्ति में शब्दा-लंकार है।

उद्धरण संख्या (२) की दूसरी पंक्ति में 'लघु तरणि' को 'हंसिनी' के समान सुन्दर कहा गया है। यहाँ शब्द के कारण सुन्दरता का चमत्कार नहीं है, बल्कि अर्थ का चमत्कार है। अर्थ करने पर तरणि और हंसिनी का साम्य देखकर मन प्रसन्न हो उठता है। इसीलिए इस प्रयोग में अर्थ के आधार पर अलंकार माना जाता है। ऐसे अलंकार को **अर्थालंकार** कहते हैं।

शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही के योग से जब काव्य में सौन्दर्य आ जाता है तब **उभयालंकार** माना जाता है।

अलंकार कविता के शब्द और अर्थ, कला और भाव दोनों को ही अलंकृत करते हैं, यथा

'कजरारी अँखियान में कजरारी न लखात।'

इसमें एक ओर तो 'कजरारी' और 'कजर री' के प्रयोग से शाब्दिक सौन्दर्य प्रकट हुआ है और दूसरी ओर कजरारी आँखों में काजल न दीख पड़ने के कारण अर्थ का सौन्दर्य स्पष्ट हुआ है।

इन उद्धरणों के द्वारा यह दिखाया गया है कि अलंकार के प्रयोग से कविता का सौन्दर्य बढ़ जाता है। कविता की आत्मा के रूप में रस को स्वीकृति दी गई है, किन्तु काव्य के सौन्दर्य को निखारने का प्रमुख साधन अलंकार ही है। यह अलंकार तीन प्रकार का है—

(१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार (३) उभयालंकार

शब्दालंकार

शब्दों के प्रयोग से वाक्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने का कार्य शब्दालंकार करते हैं। जिन प्रयोगों से कविता की शब्द-रचना सजती और अलंकृत होती है, उन्हें शब्दालंकार कहते हैं। प्रमुख शब्दालंकार चार हैं : (१) अनुप्रास (२) यमक (३) पुनरुक्तवदाभास (४) श्लेष।

अनुप्रास

समान व्यंजनों की आवृत्ति अर्थात् उनके बार-बार के प्रयोग से कविता में सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। व्यंजनों की इस आवृत्ति को **अनुप्रास** कहते हैं। अनुप्रास अलंकार में व्यंजन की आवृत्ति का ही महत्त्व मान्य है, स्वर की

आवृत्ति को स्वीकार नहीं किया गया है। अनुप्रास के पाँच भेद हैं—(१) छेकानुप्रास (२) वृत्यनुप्रास (३) अन्त्यानुप्रास (४) लाटानुप्रास (५) श्रुत्यनुप्रास। इनमें प्रथम दो का विशेष महत्त्व है। उनका परिचय निम्नांकित है—

• **छेकानुप्रास** : जब किसी वर्ण की केवल एक बार निश्चित क्रम से आवृत्ति होती है, तो छेकानुप्रास होता है। इस प्रकार किसी व्यजन का एक ही क्रम में केवल दो बार प्रयोग होने पर छेकानुप्रास होता है। उदाहरण—

'इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती।'

इस पंक्ति में 'करुणा' और 'कलित' शब्द के आरम्भ-क्रम में 'क' का दो बार प्रयोग होने के कारण छेकानुप्रास है। 'विकल' शब्द में भी 'क' वर्ण प्रयुक्त है पर उसका क्रम आरम्भ में न होकर मध्य में है, इसलिए उसे आवृत्ति रूप में नहीं माना गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रम का पालन करते हुए जब व्यंजन की एक आवृत्ति होती है तभी छेकानुप्रास अलंकार होता है।

वृत्यनुप्रास : एक व्यंजन की एक ही क्रम में दो या दो से अधिक बार आवृत्ति होने पर वृत्यनुप्रास होता है। उदाहरण—

'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।'

इस उदाहरण में 'त' की आवृत्ति शब्द के प्रारंभ में चार बार हुई है। शब्दों का आरंभिक वर्ण 'त' है। इसलिए यहाँ वृत्यनुप्रास है।

यमक

'वहै शब्द पुनि-पुनि परै अर्थ भिन्न ही भिन्न' अर्थात् यमक अलंकार में एक शब्द का दो या दो से अधिक बार प्रयोग होता है और प्रत्येक प्रयोग में अर्थ की भिन्नता होती है। उदाहरण—

'कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराय जग, या पाये बौराय॥'

इस छन्द में कनक शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। एक 'कनक' का अर्थ है 'स्वर्ण' और दूसरे का अर्थ है 'धतूरा'। इस प्रकार एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ में दो बार प्रयोग होने के कारण 'यमक' अलंकार है।

यमक के दो भेद हैं—(१) अभंगपद यमक (२) सभंगपद यमक। जब शब्द को बिना तोड़े-जोड़े एक से अधिक बार प्रयुक्त कर भिन्न अर्थ ज्ञापित किया जाता है तब अभंगपद यमक होता है, यथा—'कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय' में कनक शब्द का प्रयोग।

जब शब्द की आवृत्ति तोड़-जोड़ के साथ होती है और अर्थ में इस आधार

पर भिन्नता प्रकट होती है तब सभंगपद यमक अलंकार होता है, यथा—'कर का मनका डारि कै मन का मनका फेरि।'

इस उदाहरण में 'मनका' शब्द का तीन बार प्रयोग हुआ है। प्रथम और तृतीय प्रयोग में कोई तोड़ या जोड़ नहीं है और उनका अर्थ 'माला' है। द्वितीय प्रयोग में 'मन का' का रूप द्रष्टव्य है। ध्वनि के रूप में यह 'मनका' रूप है किन्तु 'मनका' का अंग रूप 'मन का' 'हृदय का' के अर्थ को सूचित कर रहा है। इसी रूप के कारण यहाँ सभंगपद यमक अलंकार प्रतिफलित है।

पुनरुक्तवदाभास

किसी उक्ति को दो बार कहना पुनरुक्ति है। जहाँ पुनरुक्ति का आभास हो, किन्तु वस्तुतः पुनरुक्ति न हो, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार माना जाता है। उदाहरण—

'होते विकम्पित-से नहीं क्या अचल भूधर भी वहाँ।'

इस काव्य पंक्ति में 'अचल' और 'भूधर' का प्रयोग द्रष्टव्य है। दोनों ही शब्द पर्यायवाची हैं। ऐसा आभास होता है कि एक शब्द का ही दो बार प्रयोग कर पुनरुक्ति की गई है, पर वास्तविकता इससे भिन्न है। यहाँ 'अचल' का प्रयोग 'अडिग' के अर्थ में है और भूधर का प्रयोग 'पर्वत' के अर्थ में। अतः पुनरुक्ति नहीं है। पुनरुक्ति का आभास होने पर भी पुनरुक्ति नहीं है, इसलिए इस प्रयोग में 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार प्रकाशित है।

विशेष

पुनरुक्तवदाभास और यमक अलंकार में शब्द-रूप के प्रयोग का अन्तर है। 'यमक' में एक ही शब्द की आवृत्ति होती है और अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु 'पुनरुक्तवदाभास' में एक शब्द के पर्याय प्रयुक्त होते हैं और उनके अर्थ में भिन्नता रहती है।

श्लेष

'श्लेष' शब्द का अर्थ है 'चिपका हुआ'। जब एक शब्द में ही कई अर्थ चिपके हुए होते हैं, तब श्लेष अलंकार माना जाता है। किसी कविता में जब एक शब्द का एक बार ही प्रयोग होता है, किन्तु उसके कई अर्थ प्रकट होते हैं, तब श्लेष अलंकार प्रकाशित होता है। उदाहरण—

'मंगन को देख पट देत बार-बार है।'

इस काव्य-पंक्ति में 'पट' शब्द का केवल एक बार प्रयोग हुआ है, किन्तु इससे दो अर्थ सूचित हो रहे हैं—(१) कपाट (२) वस्त्र।

अतः 'पट' के इस प्रयोग में श्लेष अलंकार है।

श्लेष अलंकार के दो भेद हैं: (१) अभंगपद श्लेष (२) सभंगपद श्लेष।

अभंगपद श्लेष : जब शब्द को बिना तोड़े-मरोड़े उससे एक से अधिक अर्थ प्राप्त होते हैं, तब अभंगपद श्लेष मान्य होता है। 'मंगन को देख पट देत बार-बार है' में 'पट' शब्द के द्वयर्थक प्रयोग के कारण श्लेष अलंकार है। 'पट' का दो अर्थ प्राप्त करने के लिए उसे तोड़ा नहीं गया है, अतः 'अभंगपद श्लेष' प्रकाशित है।

सभंगपद श्लेष : जब किसी शब्द को तोड़कर उससे दो या दो से अधिक अर्थ निकाला जाता है तब सभंगपद श्लेष मान्य होता है। निम्नांकित पंक्तियों में संभगपद श्लेष की स्थिति द्रष्टव्य है—

'रो-रो कर सिसक-सिसक कर कहता मैं करुण कहानी।
तुम सुमन नोचते, सुनते करते जानी अनजानी ।।'

यहाँ 'सुमन' शब्द का प्रयोग श्लेष अलंकार को प्रस्तुत कर रहा है। इसका एक अर्थ है 'फूल' और दूसरा अर्थ है 'सुन्दर मन'। यह दूसरा अर्थ अर्थात् 'सुन्दर मन' सुमन को तोड़ने से प्राप्त हुआ है। सुमन का खण्ड सु+मन करने पर 'सुन्दर+मन' का अर्थ होने के कारण 'सभंगपद श्लेष' है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभंगपद श्लेष में शब्द को खण्ड रूप में लाने पर दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है।

अर्थालंकार

अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने वाले अलंकार अर्थालंकार कहलाते हैं। कुछ प्रमुख अर्थालंकारों का परिचय निम्नांकित रूप में प्रस्तुत है—

उपमा : अर्थालंकारों में उपमा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपमा को समझने के लिए उपमा के चार अंगों पर विचार कर लेना समीचीन होगा। ये अंग हैं—(१) उपमेय (२) उपमान (३) धर्म (४) वाचक।

उपमेय : जिसकी उपमा की जाती है उसे उपमेय कहते हैं। यदि कहा जाए कि उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है तो इस कथन में मुख 'उपमेय' होगा, क्योंकि उसकी ही उपमा चन्द्रमा से दी गई है।

उपमान : जिससे उपमेय की उपमा दी जाती है उसे उपमान कहते हैं। मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाए तो चन्द्रमा को उपमान कहा जाएगा।

धर्म : उपमेय और उपमान जिन गुणों के कारण एक दूसरे के समान बनाए जाते हैं, उन गुणों को धर्म कहते हैं। 'उसका मुख चन्द्रमा के समान

सुन्दर है' में 'सुन्दर' ही धर्म है। इसके आधार पर ही मुख और चन्द्रमा में उपमा की गई है अर्थात् दोनों में समता स्थापित की गई है।

वाचक : वाचक वह शब्द है जिससे उपमेय और उपमान की समता की सूचना मिलती है। 'उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' में 'समान' समता सूचक होने के कारण वाचक है।

उपमा के चार अंगों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि **उपमा वह अर्थालंकार है जिसके द्वारा उपमेय और उपमान में समान धर्म के आधार पर समता स्थापित की जाती है।**

जब उपमा के चारों अंग वर्तमान रहते हैं तब **पूर्णोपमा** होती है। इसका उदाहरण देखिए—

'नील गगन सा शांत हृदय था हो रहा।'

इस पंक्ति में 'हृदय' उपमेय है, 'नील गगन' उपमान है, 'शांत' धर्म है और 'सा' वाचक है। अतः पूर्णोपमा प्रतिफलित है।

उपमा के चार अंगों में से जब कोई अंग लुप्त होता है, तब **लुप्तोपमा** होती है। 'कुंद इंदु सम देह' में धर्म लुप्त है। अतः इस पंक्ति में धर्मलुप्तोपमा अलंकार है। इसी प्रकार उपमेय के लोप से **उपमेय लुप्तोपमा**, उपमान के लोप से **उपमान लुप्तोपमा** और वाचक के लोप से **वाचक लुप्तोपमा**, का प्रकाशन होता है।

जब किसी उपमेय की उपमा कई उपमानों से की जाती है, और इस प्रकार उपमा की माला-सी बन जाती है, तब **मालोपमा** मानी जाती है। इसका उदाहरण निम्नांकित है—

'हिरनी से, मीन से, सुखंजन समान चारू,
अमल कमल से, विलोचन तिहारे हैं।'

'नेत्र' उपमेय के लिए कई उपमान प्रस्तुत हैं, अतः **मालोपमा** है। मालोपमा के उदाहरण स्वरूप 'भूषण' का प्रसिद्ध कवित्त प्रस्तुत किया जाता है—

'इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंब पर,
रावण सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम-द्विजराज हैं।
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृग-झुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।

तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों म्लेच्छ-बंश पर सेर सिवराज हैं ॥'

अनन्वय

उपमेय जब इतना अधिक महत्वपूर्ण होता है कि उसकी उपमा के लिए किसी उपमान को प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता और उपमेय को ही उसका उपमान बना दिया जाता है, तब **अनन्वय** अलंकार माना जाता है। उदाहरण—

'राम से राम, सिया सी सिया सिरमौर विरञ्चि विचारि सँवारे।'

यहाँ 'राम' की उपमा 'राम' से ही दी गई है। इसी प्रकार 'सिया' का उपमान 'सिया' ही है। अतः इन प्रयोगों में अनन्वय अलंकार सिद्ध हुआ है।

रूपक

जब उपमेय और उपमान में एकरूपता दिखाई जाती है, तब **रूपक** अलंकार माना जाता है। इन दोनों की एकरूपता दिखाने के लिए उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है। इसीलिए रूपक में 'वाचक' की आवश्यकता नहीं रहती है। इसमें उपमेय और उपमान दोनों ही एकरूप होते हैं। उदाहरण—

'उदित उदयगिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग॥'

यहाँ 'उदयगिरि' और 'मंच', 'रघुबर' और 'बाल पतंग', 'संत' और 'सरोज' तथा 'लोचन' और 'भृंग' की एकरूपता द्रष्टव्य है। इसीलिए इन सबमें रूपक अलंकार है।

प्रतीप

'प्रतीप' शब्द का अर्थ है 'उलटा'। सामान्य क्रम में उपमान उपमेय से श्रेष्ठ होता है। इस क्रम की उलटी स्थिति होने पर प्रतीप अलंकार माना जाता है। प्रतीप अलंकार के द्वारा या तो प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया जाता है या फिर उपमेय द्वारा उपमान का तिरस्कार दिखाया जाता है। प्रतीप का उदाहरण—

'है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
बिंबाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है॥'

यहाँ 'दाड़िम' और 'बिंबा', जो क्रमशः दाँत और अधर के उपमान माने जाते हैं, को उपमेय बना दिया गया है, अतः प्रतीप अलंकार है।

व्यतिरेक

व्यतिरेक का शब्दार्थ है 'अन्तर'। जब उपमेय और उपमान की समता दिखाते हुए भी उपमेय में उपमान की अपेक्षा किसी विशेष योग्यता को दिखाकर दोनों में अन्तर सूचित किया जाता है, तब व्यतिरेक अलंकार होता है। व्यतिरेक का उदाहरण—

'सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलीन वह, निसि-दिन यह बिगसाय॥'

यहाँ सीता का मुख उपमेय है और शरद-कमल उपमान है। कमल रात को कुम्हला जाता है पर सीता का मुँह रात-दिन खिला रहता है। सीता के मुँह में विशेष योग्यता सूचित कर उसका कमल से अन्तर प्रकाशित किया गया है, इसलिए व्यतिरेक अलंकार है।

दृष्टांत

जब दो वाक्यों में वर्णित दो बातों की समानता बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से दिखाई जाती है, तब दृष्टांत अलंकार होता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थात् उपमेय और उपमान वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब स्थिति का होना दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्त का उदाहरण—

'रहिमन अँसुवा नयन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह तें, कस न भेद कहि देइ॥'

इस उक्ति में प्रथम वाक्य में एक बात कही गई है और दूसरे वाक्य में दूसरी बात। दोनों के धर्म भिन्न हैं। इनमें समता सूचित करने के लिए 'वाचक' शब्द अर्थात् 'सम', 'समान' आदि का प्रयोग भी नहीं हुआ है, किन्तु दोनों वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब स्थिति है। दूसरा वाक्य पहले को संपुष्ट करने वाले उदाहरण की भाँति है। अतः दृष्टान्त अलंकार है।

भ्रांतिमान

किसी प्रस्तुत वस्तु को देखकर, उसके सदृश किसी अन्य वस्तु का भ्रम हो जाने पर भ्रान्तिमान अलंकार होता है। उदाहरण—

'नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है।
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है?'

तोता ने उर्मिला की नाक को भ्रमवश अन्य तोता समझ लिया। भ्रमवश ही उसने अधर पर लटकते हुए नाक में पहने गए मोती को अनार का बीज समझ लिया। भ्रम की इस स्थिति के कारण यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा का शाब्दिक अर्थ है 'देखने की उत्कट इच्छा'। जब उपमेय और उपमान के भिन्न होने पर भी उन्हें समान देखने की उत्कट इच्छा से कवि उनमें समानता की संभावना करता है, तब उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। इस संभावना के पीछे कवि की कल्पना अपना विलास दिखाती है। उत्प्रेक्षा अलंकार में 'मनु', 'जनु', 'मानों', 'जानों' आदि वाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण

'सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि सैल पर आतप पर्‌यो प्रभात॥'

अतिशयोक्ति

जब वर्ण्य वस्तु का अतिरंजित वर्णन होता है अर्थात् उसके सम्बन्ध में बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया जाता है तब अतिशयोक्ति मानी जाती है। उक्ति की अतिशयता अर्थात् उक्ति को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करना ही अतिशयोक्ति है। उदाहरण—

'हनुमान की पूँछ में लगन न पायी आग।
लंका सिगरी जल गयी गये निसाचर भाग॥'

यहाँ लंका-दहन की घटना को अतिशयोक्ति द्वारा प्रगट किया गया है। पूँछ में आग भी न लग पाई थी पर सारी लंका जल गई, यह अतिशयोक्ति है।

अप्रस्तुत प्रंशसा (अन्योक्ति)

अप्रस्तुत का वर्णन कर जब प्रस्तुत का कथन किया जाता है, तब अप्रस्तुत प्रशंसा अर्थात् अन्योक्ति अलंकार माना जाता है। उदाहरण—

'स्वारथ सुकृत न स्रम बृथा, देखु बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि परि तू पंछीन न मारि॥'

यहाँ अप्रस्तुत 'बाज' पक्षी को लक्ष्य कर प्रस्तुत मिर्जा राजा जयसिंह के संबंध में कथन किया गया है और उन्हें सचेत किया गया है। इस प्रकार 'बाज' के माध्यम से अन्योक्ति सिद्ध की गई है।

समासोक्ति

जब प्रस्तुत का वर्णन किया जाए और उस वर्णन से अप्रस्तुत की व्यंजना हो, तब **समासोक्ति** अलंकार होता है। इस अलंकार में अप्रस्तुत की व्यंजना तो होती है, किन्तु प्रस्तुत का वर्णन भी अपना महत्त्व रखता है।

उदाहरण—

'पीलहि पील दिखावा, भए दुओ चौदांत।
राजा चहै बुर्द भा, साह चहै सह-मात॥'

यहाँ प्रस्तुत रूप में शतरंज के खेल का कथन है किन्तु राजा का 'बुर्द' होना और साह का 'सह-मात' देना अलाउद्दीन के मन्तव्य को भी सूचित कर रहा है। यही वह अप्रस्तुत है, जिसे प्रस्तुत के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। अत: यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

विभावना

विभावना का अर्थ है, 'विशिष्ट भावना'। सामान्य रूप से किसी कारण के परिणामस्वरूप ही कोई कार्य उपस्थित होता है। काव्य में जब बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति दिखाई जाती है या कार्य से कारण की उपस्थिति सूचित की जाती है, तब **विभावना** अलंकार माना जाता है। उदाहरण—

'बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥'

यहाँ चलने का कारण 'पद', सुनने का कारण 'कान' और कर्म का कारण 'कर' अनुपस्थित है फिर भी चलना, सुनना और कर्म करना संपन्न हो रहा है। अत: कारण के न रहने पर भी कार्य होने के फलस्वरूप विभावना अलंकार मान्य है।

विशेषोक्ति

कारण के उपस्थित होने पर भी कार्य न होने की दशा में **विशेषोक्ति** अलंकार माना जाता है। उदाहरण—

'नीर भरे निसदिन रहैं, तऊ न प्यास बुझाय।'

इस पंक्ति में प्यास बुझाने का कारण 'नीर' उपस्थित है, पर प्यास बुझने का कार्य नहीं हो पा रहा है। अत: विशेषोक्ति अलंकार है।

यथासंख्य

जब कही हुई बातों के क्रम में ही उनसे सम्बन्धित अन्य पोषक बातों का

भी क्रमांकित किया जाता है, तब **यथासंख्य** अलंकार या **क्रमालंकार** माना जाता है। उदाहरण—

'भुजनि भुजंग सरोज नयननि, बदन बिधु जीत्यो लरनि।
रहे कुहरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि॥'

यहाँ वर्ण्य विषय भुजा, नयन और बदन जिस क्रम से रखा गया है, उसी क्रम में उनके उपमान भुजंग, सरोज, बिधु रखे गए हैं और ठीक उसी क्रम में उनके रहने का स्थान कुहर, सलिल, नभ भी निर्दिष्ट किया गया है। क्रम के पालन के कारण यहाँ क्रमालंकार है। क्रमालंकार को ही यथासंख्य भी कहते हैं।

परिसंख्या

किसी वस्तु को उसके दोषपूर्ण स्थान से हटाकर निरापद स्थान में दिखाना **परिसंख्या** है। उदाहरण—

'नृपति राम के राज में है न सूल दुखमूल।
लखियतु चित्रन में लिखें संकर के कर सूल॥'

'दुखमूल और सूल' का राम-राज्य में निषेध कर उसे शंकर के कर में शोभित 'त्रिशूल' के मध्य दिखाया गया है। 'शूल' का संसार में रहना दोषपूर्ण है। वहाँ से उसे हटाकर 'शंकर' के कर के त्रिशूल में अवस्थित कर दिया गया है। फलतः 'परिसंख्या' अलंकार मान्य है।

उल्लेख

एक वस्तु का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन **उल्लेख** कहलाता है। यह दो प्रकार से होता है :

१. एक ही व्यक्ति कई प्रकार से वर्णन करे।

उदाहरण— 'साधुन को सुखदानि हैं, दुर्जन दुखदानि।
बैरिन बिक्रम हानिप्रद, रामतिहारे पानि॥'

२. कई व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप में वर्णन करें।

उदाहरण—

'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।
देखहि भूप महा रनधीरा। मनहुं बीर रस धरा सरीरा॥
पुरबासिन देखें दोउ भाई। नर भूषण लोचन सुखदायी॥
योगिन परम तत्वमय भासा। सांत सुद्ध मन सहज प्रकासा॥'

नए अलंकार

अलंकारों का उपर्युक्त विवेचन भारतीय साहित्य-शास्त्र के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक युग में अभिव्यक्ति के कुछ नए रूप भी दृष्टिगत हुए हैं। इन्हें पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से अलंकार कहा गया है। इन अलंकारों में निम्नलिखित तीन अलंकार विशेष महत्वपूर्ण हैं—

१. मानवीकरण
२. विशेषण-विपर्यय
३. ध्वन्यर्थ व्यंजना

मानवीकरण

अचेतन तत्त्वों पर मानवीय भावों और सम्बन्धों का आरोप कर उन्हें मानव के समान आचरण करते हुए दिखाना मानवीकरण है।

उदाहरण —

'बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट उषा-नागरी॥
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लायी नव मुकुल नवल रस गागरी॥'

यहाँ लता को गागरी भरते दिखाया गया है। उसे नायिका रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अंचल रूप में किसलय को उपस्थित किया गया है। इस प्रकार उसके रूप-विधान में मानवीकरण अलंकार का प्रयोग है।

विशेषण-विपर्यय

जब एक वस्तु का विशेषण उससे सम्बन्धित दूसरी वस्तु में लगा दिया जाता है तब **विशेषण-विपर्यय** अलंकार मान्य होता है। उदाहरण—

'निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी सी।'

इस कथन में विकल हृदय का विशेषण है, उसे कहानी के साथ संयुक्त कर दिया गया है। वस्तुतः कहानी स्वयं विकल नहीं होती है, यह विकल बनाती है। कहानी के विशेषण रूप में 'करुणा विकल' का प्रयोग ही 'विशेषण-विपर्यय अलंकार' है।

ध्वन्यर्थ व्यंजना

वस्तु-वर्णन के अनुरूप ध्वनि-वर्णों और शब्दों के प्रयोग को **ध्वन्यर्थ-व्यंजना** कहते हैं।

उदाहरण—

'बांसो का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
चिड़ियाँ चहक रहीं टी-वी-टी-टुट-टुट।'

यहाँ 'टी-वी-टी-टुट-टुट' के द्वारा चिड़ियों के चहकने की ध्वनि प्रस्तुत की गई है। अतः इस कथन में ध्वन्यर्थ-व्यंजना मान्य है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

'खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा।'

यहाँ 'कुल-कुल' की ध्वनि पक्षियों के कलरव को ध्वनित कर रही है। इससे कविता में नाद-सौन्दर्य और ध्वन्यात्मकता का समावेश हो गया है। अतः इस प्रयोग में 'ध्वन्यर्थ-व्यंजना' है।

बिम्ब और प्रतीक

काव्य का सौन्दर्य-बोध कराने में अलंकारों का ज्ञान तो सहायक होता ही है, उसके साथ ही काव्य में प्रस्तुत किए जाने वाले बिम्बों और प्रतीकों की जानकारी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती है। अतः इनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है।

बिम्ब

काव्य में बिम्ब-विधान का बड़ा महत्त्व है। जिस कवि का बिम्ब-विधान सुन्दर होता है, उसकी कविता भी सुन्दर होती है। बिम्ब का अर्थ है, वर्ण्य का स्वरूप बोध। इन बिम्बों का प्रत्यक्षीकरण इन्द्रियों द्वारा होता है। नेत्र से ग्रहण किए जाने वाले बिम्ब दृश्य होते हैं। श्रवण, घ्राण, स्पर्श और आस्वाद से भी बिम्बों का बोध होता है। कुछ बिम्ब चल होते हैं और कुछ स्थिर। बिम्बों का सफल अंकन कर साहित्यकार पाठक या सहृदय पर अनेक प्रभाव छोड़ता है। इसीलिए बिम्ब-योजना का काव्य में अत्याधिक महत्त्व मान्य है। दृश्य-बिम्ब का एक उदाहरण देखिए—

'लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे।
चन्द्रिका अंधेरी मिलती मालती कुंज में जैसे॥'

इस वर्णन में मिलन-चित्र कर बिम्ब आँखों के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है।

प्रतीक

किसी वस्तु या भाव की सहज पहचान कराने वाले चिह्न को सामान्यतः प्रतीक माना जाता है। काव्य में भी भाव-बोध हेतु कुछ प्रतीक (पहचान

बनाने वाले) मान्य हैं। जैसे लोक जीवन में जयचंद और मीर जाफर को देशद्रोह का, सीता और सावित्री को पतिव्रत धर्म का प्रतीक माना जाता है उसी प्रकार काव्य-जगत में भी विभिन्न प्रकार के भावों के सूचक प्रतीक स्वीकृत हैं। संत कवियों ने 'हंस' को आत्मा का प्रतीक माना है।

उदाहरण—

'उड़ि चल हंसा वाही देस जहाँ से फेर न गमनैं।'

इस पंक्ति में 'हंस' कहने से 'आत्मा' का बोध होता है।

८

गुण और दोष

(क) गुण

मनुष्य में शूरता, उदारता आदि का गुण विद्यमान रहता है। ठीक इसी प्रकार काव्य में भी गुण बसते हैं। ये गुण काव्य के 'रस' को बढ़ाते हैं। काव्य से प्राप्त होने वाले आनन्द में गुणों के कारण वृद्धि होती है। शृंगार रस की कविता का आस्वाद लेते समय हमें माधुर्य की प्राप्ति होती है। वीर रस की कविता से ओज भाव तीव्रता को प्राप्त करता है। यह सब काव्य के गुण का ही परिणाम है। इसीलिए काव्य के गुण तीन प्रकार के माने गए हैं—(१) माधुर्य (२) ओज (३) प्रसाद।

माधुर्य गुण : इस गुण के कारण मन में मिठास, कोमलता, आर्द्रता आदि का समावेश होता है। चित्त को द्रवित करने वाले आनन्द को ही माधुर्य कहते हैं। माधुर्य गुण का संबंध कोमल भाव वाले रसों से अधिक होता है। शृंगार, करुण, शान्त और वात्सल्य रसों के उत्कर्ष में माधुर्य गुण का सराहनीय योगदान होता है।

इस गुण को व्यंजित करने में कोमल और श्रुति-सुखद शब्दावली का प्रयोग सहायक होता है। सामासिकता का अभाव ट, ठ, ड, ढ जैसे कठोर वर्णों की अस्वीकृति माधुर्य गुण की विशेषता है। इस गुण से युक्त कविता का उदाहरण निम्नांकित है—

'मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया बिचारो।'

ओज गुण : ओज गुण का संबंध मन की दीप्ति, उज्ज्वलता, ओजस्विता

और तेज से है। वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में इसका समावेश दिखाई पड़ता है। ओज गुण इन रसों को बढ़ाता है। माधुर्य गुण में चित्त द्रवीभूत होता है, किन्तु ओज गुण में वह विस्तार प्राप्त करता है।

ओज गुण को प्रभावी बनाने में परुष पदावली, संयुक्त व्यंजन, सामासिकता, श्रुति-कठोर वर्णों ट, ठ, ड, ढ, का प्रयोग सहायक होता है। उदाहरणार्थ –

'निकसत म्यान तें मयूखैं प्रलै भानु कैसी
 फारै तम-तोम से गयन्दन के जाल को।
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी,
 रुद्रहि रिझावै दै दै मुंडन के माल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली
 कहाँ लौं बखान करूँ तेरी करवाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि,
 कालिका सी किलकि कलेऊ देत काल को।'

प्रसाद गुण

प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता, निर्मलता और विकास। प्रसाद गुण संपन्न कविता का भाव कविता को सुनते ही समझ में आ जाता है। इस गुण से युक्त रचना चित्त में शीघ्र ही व्याप्त हो जाती है। सभी रसों को बढ़ाने में प्रसाद गुण सहायक हो सकता है।

प्रसाद गुण में वर्ण, शब्द और पद को इस प्रकार आयोजित किया जाता है कि अर्थ की स्पष्टता बनी रहे और भाव की सहज व्यंजना हो सके। भावानुरूप कोमल और कठोर सभी प्रकार के वर्णों का प्रयोग प्रसाद गुण की विशेषता है। उदाहरण —

'मानुस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरंदर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब के डारन॥'

(ख) दोष

काव्य में मुख्यार्थ के विघातक या अपकर्ष के तत्त्व को दोष कहते हैं। दोष पाँच प्रकार के होते हैं : (१) पद-दोष (२) पदांश-दोष (३) वाक्य-दोष (४) अर्थ-दोष (५) रस-दोष : शब्द, अर्थ और रस की दृष्टि से आचार्यों ने

७० प्रकार के दोषों का कथन किया है। कुछ प्रमुख दोषों का परिचय निम्नांकित है—

श्रुतिकटुत्व : श्रुति का अर्थ है 'सुनना' और कटुत्व का अर्थ है 'कठोर'। श्रुतिकटुत्व का अर्थ हुआ—'वह प्रयोग जो सुनने में कठोर लगे।' मधुर या कोमल भावों के कथन में कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग हो तो श्रुतिकटुत्व दोष माना जाता है।

उदाहरण—

'उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से।
अर्ण वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के?'

इस पद में 'वर्ण', 'कर्ण', 'सुवर्ण' की कर्ण-कटु ध्वनि के कारण श्रुतिकटुत्व दोष है।

च्युत-संस्कृति : व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग होने पर च्युत-संस्कृति दोष माना जाता है। उदाहरण—

'मृदुल मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा।
'तब पिक करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा॥'

इस कविता की दूसरी पंक्ति का अंतिम शब्द 'तेरा' व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग है। इसके स्थान पर 'अपना' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। इस अशुद्ध प्रयोग के कारण 'च्युत-संस्कृति दोष' मान्य है।

क्लिष्टत्व : अर्थ को दुरूह बनाने वाले शब्दों के प्रयोग से क्लिष्टत्व दोष उत्पन्न होता है। उदाहरण—

'मन्दिर अरध अवधि हरि बदि गये हरि अहार चलि जात।'

यहाँ मन्दिर अरध=पक्ष, हरि अहार=मांस=महीना के रूप में प्रयुक्त है। इन प्रयोगों के कारण अर्थ-बोध में कठिनाई होती है। अतः क्लिष्टत्व दोष दृष्टिगत होता है। सूरदास के कूट-पदों में ऐसे प्रयोगों का बाहुल्य है।

संदिग्धत्व : जब किसी रचना में स्पष्ट अर्थ-बोध कराने की क्षमता नहीं रहती और अर्थ के सम्बन्ध में संदेह बना रहता है या दो अर्थ प्रतीत होकर यह निश्चय नहीं हो पाता है कि अभीष्ट अर्थ क्या है, तब संदिग्धत्व दोष मान्य होता है। उदाहरण—

'मार से बचाओ नाथ आई हूँ शरण में'

इस प्रयोग में 'मार' शब्द के दो अर्थ है (१) कामदेव (२) मारना। शरण में आकर बचाने की प्रार्थना दोनों ही स्थितियों में संभव है। अतः 'संदिग्धत्व' दोष है। यदि संदर्भ से 'मार' का अर्थ कामदेव स्पष्ट हो जाय तब संदिग्धत्व दोष मान्य न होगा।

न्यून पदत्व : कविता में अभिप्रेत अर्थ को जानने के लिए कोई शब्द जोड़ना आवश्यक हो तब यह मानना पड़ता है कि कवि ने आवश्यकता से कम पदों का प्रयोग किया है। ऐसी स्थिति में न्यून पदत्व दोष माना जाता है। उदाहरण—

यदि मुझे बाँधना चाहे मन।
पहले लो बाँध अनन्त गगन॥

इस कविता की पहली पंक्ति में 'मन' से पूर्व 'तुम्हारा' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। इसकी न्यूनता के कारण यहाँ 'न्यून पदत्व' दोष है।

अधिक पदत्व : जब कविता में आवश्यकता से अधिक पदों का प्रयोग होता है और अधिक पद को हटा देने से काव्यार्थ में अन्तर नहीं आता तब 'अधिक पदत्व दोष' मान्य होता है। उदाहरण—

'इसे तिहारे शत्रु को खड्गलता-अहिराज।'

इस पंक्ति में 'लता' शब्द अनावश्यक है। अतः इसके प्रयोग के कारण 'अधिक पदत्व दोष' उत्पन्न हो गया है।

दुष्क्रमत्त्व : वर्ण्य विषय का जो क्रम लोक और शास्त्र में मान्य हो, उसे बदल दिया जाए तो दुष्क्रमत्त्व दोष होता है। उदाहरण—

'मारुत-नन्दन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायो।'

मान्य क्रम के अनुसार मन का वेग सर्वाधिक है, अतः उसे अन्त में रखना चाहिए था। कवि ने मन के बाद 'खगराज' को रख दिया है। अतः यहाँ दुष्क्रमत्त्व दोष उत्पन्न हो गया है।

९

छंद और लय

काव्य में छंद और लय की उपयोगिता

कविता में लय का बड़ा महत्त्व है। लय के कारण कविता गेय हो उठती है। इसी लय तत्त्व को नियमबद्ध करने के लिए छंद की योजना हुई है। छंदों के द्वारा रचना में पद-लालित्य आ जाता है।

पद्य 'पद्' धातु से बना है। इसका अर्थ है, 'गीत'। छंद के कारण रचना में गीत या लय तत्त्व निखर उठता है। इसीलिए छंद और पद्य एक दूसरे के बोधक हो गए हैं। आज छंद कहते ही पद्य का बोध होने लगता है। इसी प्रकार पद्य कहने से छंद-बद्ध रचना की ओर सहज ही ध्यान चला जाता है। छंद-योजना से कविता में लय और गति आ जाती है, जिससे रोचकता बढ़ जाती है और कविता को बार-बार पढ़ने की इच्छा जागृत होती है।

प्राचीन समय में छंद-बन्धन को कविता का अनिवार्य अंग माना जाता था, किन्तु आधुनिक काल में नई कविता छंद-बंधन से मुक्त होकर लिखी जा रही है। जहाँ छंद का बन्धन स्वीकार किया जाता है, वहाँ मात्रा, वर्ण आदि की निश्चित व्यवस्था को मानते हुए भाव को काव्य-पंक्तियों में बाँधा जाता है। छंद-संबंधी नियमों को सर्वप्रथम महर्षि पिंगल ने प्रस्तुत किया, इसीलिए छंद-शास्त्र का एक नाम पिंगल शास्त्र भी है।

छंद का ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व हमें **वर्ण, मात्रा, गण और गणना-नियम** की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

मात्रा और वर्ण

लिखित भाषा की सबसे छोटी इकाई वर्ण है। किसी भी वर्ण के उच्चारण

में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। मात्रा को दो वर्गों में बाँटा गया है—

(१) लघु (२) गुरु। लघु मात्रा का चिह्न (।) है और गुरु मात्रा का चिह्न (ऽ) है। लघु मात्रा को एक मात्रा व गुरु को दो मात्रा मानकर छंद में गणना की जाती है। 'क' में लघु मात्रा अर्थात् एक मात्रा है और 'का' में गुरु मात्रा अर्थात् दो मात्राएँ हैं। इसी प्रकार की स्थिति अन्य वर्णों में भी है। 'राम' में 3 मात्राएँ हैं, क्योंकि 'रा' गुरु है और 'म' लघु है। गणना करते समय कुछ बातों पर विशेष ध्यान अपेक्षित होता है। इनका विवरण निम्नांकित है—

१. अ, इ, उ, ऋ को लघु माना जाता है।

२. आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ को गुरु माना जाता है।

३. संयुक्ताक्षर में यदि प्रारंभ का वर्ण आधा है तो उसकी गणना नहीं होती है।

४. संयुक्ताक्षर में मध्य आधा अक्षर होने पर पूर्व का वर्ण यदि लघु है तो उसे गुरु मान लिया जाता है। उदाहरण रूप में 'भक्त' शब्द में 'भ' लघु है पर उसके आगे 'क' है, अतः 'भ' को गुरु माना जाएगा। इसकी गणना इस प्रकार होगी-'भक्त'=ऽ।=३ मात्रा।

५. अनुस्वार और विसर्ग युक्त वर्ण यदि लघु हो तो उन्हें गुरु माना जाता है, यथा—अंगूर=ऽऽ।=५ मात्रा। दुःख=ऽ।=३ मात्रा।

६. अनुस्वार न होकर यदि चन्द्र बिन्दु लगा हो तो लघु वर्ण को गुरु नहीं मानते हैं, यथा 'हँसना'=।।ऽ=४ मात्रा।

७. जिस वर्ण पर रेफ लगा होता है, उसके पूर्व का वर्ण लघु होने पर गुरु हो जाता है। यथा, कर्म=ऽ।=३ मात्रा।

८. हलन्त के पूर्व का वर्ण लघु होने पर गुरु हो जाता है, यथा, श्रीमन्=ऽऽ=४ मात्रा।

कविता में वर्ण और मात्रा की गणना का छंद की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। इसीलिए गणना के नियम निश्चित किए गए हैं। तीन वर्णों का समूह 'गण' कहलाता है। इस प्रकार के ८ गण छंद-शास्त्र में प्रतिष्ठित हैं। इन्हें समझने के लिए एक सूत्र प्रस्तुत किया गया है—यमाताराजभानसलगम्।

सूत्र का विश्लेषण करने पर ८ गणों की तथा उनकी मात्राओं की तालिका इस रूप में प्राप्त होती है—

क्र० सं०	गण	मात्रा-योजना	वर्ण संख्या	मात्रा संख्या
१.	यमाता	।ऽऽ	३	५
२.	मातारा	ऽऽऽ	३	६
३.	ताराज	ऽऽ।	३	५
४.	राजभा	ऽ।ऽ	३	५
५.	जभान	।ऽ।	३	४
६.	भानस	ऽ।।	३	४
७.	नसल	।।।	३	३
८.	सलगम्	।।ऽ	३	४

छंद के भेद

मात्रा और वर्ण योजना के आधार पर छंद के दो भेद हैं—

१. मात्रिक २. वर्णिक या वर्ण वृत्त।

प्रत्येक छंद में चार चरण होते हैं इनको पद या पाद भी कहते हैं। कुछ छंदों में ६ चरण भी होते हैं, यथा छप्पय और कुण्डलिया।

मात्रिक छंदों में केवल मात्राओं का बन्धन होता है। विभिन्न प्रकार के मात्रिक छंदों में चरणों के बीच विराम स्थल स्वीकार किए जाते हैं। इन्हें **विराम** या **यति** कहते हैं।

वर्ण वृत्त छंदों में गणों का संयोजन रहता है अर्थात् वर्ण और मात्रा दोनों की गणना होती है और इन दोनों में ही क्रम स्थापित रहता है।

कुछ छंद ऐसे भी होते हैं जिनमें मात्रा की गणना न होकर केवल वर्णों की ही गणना होती है। दंडक छंद इसी प्रकार का होता है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के छंदों में से कुछ प्रमुख छंदों का वर्णन किया जाएगा। इनका वर्णन करने के पूर्व सम, अर्द्ध सम और विषम छंदों के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। जिस छंद के चारों चरणों में मात्रा या वर्ण समान हों, उन्हें 'सम छंद' कहते हैं। प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में मात्रा और वर्ण जब समान हों तब अर्द्ध सम छंद माना जाता है। जब चारों ही चरणों में मात्रा और वर्ण असमान हों तब विषम छन्द होता है।

छंद के विभिन्न चरणों में एक-सी ध्वनि होने को तुक कहते हैं।

मात्रिक छंद

चौपाई : यह एक सम मात्रिक छन्द है। इसमें चार चरण होते है। प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं तथा अन्त में जगण (ISI) या तगण (SSI) न रखने का विधान है। चौपाई के चरणान्त में (SI) गुरु लघु नहीं होना चाहिए। इस छंद के दो चरणों को मिलाकर एक अर्धाली बनती है।

उदाहरण—

S I I S I I S I I I I I I=१६। I I I I I I I S I I I I I I= १६
कंकन-किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन राम हृदय गुनि ॥
S I I I I I S I S S S =१६। I S S I I I I I I I S S=१६
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विस्व-विजय कहँ कीन्ही ॥

दोहा : यह एक अर्ध सम मात्रिक छंद है। इसके सम चरणों (दूसरे व चौथे चरणों) में ११-११ मात्राएँ और विषम चरणों (प्रथम व तृतीय चरणों) में १३-१३ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार १३+११, १३+११ मात्राओं के क्रम से इसके चार चरणों का संयोजन होता है। दोहा के विषम चरणों के प्रारंभ में जगण (ISI) नहीं होना चाहिए और अन्त में (SI) गुरु लघु मात्रा के साथ सम चरणों को समाप्त होना चाहिए। अन्त में (SI) गुरु लघु का क्रम आवश्यक होता है।

उदाहरण—

I I I I I I S I I I I I=१३ I I I I I I I I I I S I=११
रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
S I I S S S I S=१३ I I I S I I I S I=११
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ ॥

सोरठा : सोरठा को दोहा का उल्टा माना जाता है। दोहा के विषम चरणों (प्रथम व तृतीय) में ११-११ मात्राएँ तथा सम चरणों (द्वितीय और चतुर्थ) में १३-१३ मात्राएँ होती हैं। इस छंद में विषम चरणों के अन्त में तुक मिलता है।

उदाहरण—

I I I I S I I S I =११ S I I S I I I I I S=१३
लिखकर लोहित लेख, डूब गया दिनमणि अहा।
S I S I I I S I =११ S I I I I I I I S I S =१३
व्योम-सिन्धु सखि देख, तारक बुद बुद दे रहा ॥

रोला : रोला छंद के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती है। इसमें ११ और १३ मात्राओं पर विराम होता है।

उदाहरण—

I I S I I I I S I =११ S I S I I S S I I =१३
नव उज्वल जलधार, हार हीरक-सी सोहति,
बिच-बिच छहरति बूंद, मध्य मुक्ता-मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत,
जिमि नर गन मन विविध, मनोरथ करत मिटावत॥

कुंडलिया : इस छंद में ६ चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। इस छंद के प्रथम दो चरण दोहा छंद में तथा अंतिम चार चरण रोला छंद में लिखे जाते हैं। द्वितीय चरण के उत्तरार्ध का वाक्यांश ही तृतीय चरण के पूर्वार्ध का वाक्यांश होता है। दोहा की यति ही घूमकर रोला के छंद में आ जाती है, इससे कुंडली सी बन जाती है। इसी आधार पर इस छंद को कुंडलिया कहा गया है। इस छंद के प्रारंभ का शब्द ही छंद के अंत में भी प्रयुक्त होता है।

उदाहरण—

दोहा:-बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेहु।
जो बनि आवै सहज में, ताही में चित्त देहु॥
रोला:-ताही में चित देहु, बात जोई बनि आवै।
दुर्जन हँसे न कोइ, चित्त में खेद न पावै॥
कह गिरधर कविराय, यहै कर मन परतीती।
आगे की सुधि लेहु, समुझि बीती सो बीती॥

गीतिका : इस छंद के प्रत्येक चरण में १४ और १२ के विराम से २६ मात्राएँ होती हैं। प्रत्येक चरण के अन्त में रगण (S I S) होने पर माधुर्य बढ़ जाता है। चरण के अन्त में रगण न हो तो (I S) क्रम से मात्राएँ होनी चाहिए।

उदाहरण—

S I S S S I S S =१४ S I I I S S I S =१२
हे प्रभो आनन्द दाता, ज्ञान हमको दीजिए।
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए।
लीजिए हमको शरण में हम सदाचारी बनें।
ब्रह्मचारी धर्म रक्षक, वीरव्रत धारी बनें॥

हरिगीतिका : हरिगीतिका के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं। १६ व १२ मात्राओं पर प्रत्येक चरण में यति होती है। प्रत्येक चरण के अन्त में (। ऽ) का क्रम मान्य है।

उदाहरण --

। । ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ । । । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ = १६ + १२
खग वृन्द सोता है अतः कल-कल नहीं होता वहाँ।
बस मंद मारुत का गमन ही, मौन है खोता जहाँ।
इस तरह धीरे से परस्पर कह सजगता की कथा।
यों दीखते हैं वृक्ष ये हों, विश्व के प्रहरी यथा॥

वीर (आल्हा) : इस छन्द के प्रत्येक चरण में ३१ मात्राएँ होती हैं। जिसके १६ व १५ मात्रा पर विराम होता है और चरण के अंत में (ऽ।) के क्रम से मात्रा संयुक्त होती है।

उदाहरण—

। । ऽ । । ऽ ऽ । । । । ऽ = १६ । । ऽ । । । । । । । । ऽ । = १५
नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिङ्ग पराग।

छप्पय : यह एक विषम मात्रिक छंद है। इस छंद में ६ चरण होते हैं। छंद के प्रथम चार चरण रोला के एवं अंतिम दो चरण उल्लाला के होते हैं। इसीलिए प्रथम चार चरणों में २४-२४ व अंतिम दो चरणों में २८-२८ मात्राएँ होती हैं। उदाहरण—

जिसकी रज में लोट-लोट कर बड़े हुए हैं।
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं॥
परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाए।
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाए॥
हम खेले-कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृ-भूमि तुझको निरख, मग्न क्यों न हों मोद में॥

सवैया : सवैया छंद का एक स्वतंत्र प्रकार है। इसमें चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में २२ से लेकर २६ वर्ण तक का गण क्रम से संयोजन होता है। गण क्रम और वर्ण संयोजन के आधार पर सवैया के कई भेद किए गए हैं, यथा, मदिरा, चकोर, मत्तगयंद या मालती, सुमुखि, किरीट, दुर्मिल, सुन्दरी आदि। इन सबमें कवियों द्वारा मत्तगयंद सवैया का बहुत प्रयोग किया गया

है। इसका लक्षण निम्नांकित है—

मत्तगयन्द या मालती सवैया के प्रत्येक चरण में ७ भगण और उसके बाद दो गुरु वर्ण होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक चरण में २३ वर्ण का संयोजन होता है।

उदाहरण—

सेस महेस गनेस सुरेस दिनेसहु जाहि निरंतर गावैं।
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारि रहे पुनि पार न पावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद, सुवेद बतावैं।
ताहि अहीर कि छोहरियाँ छछिया भर छाछ प नाच नचावैं।

विशेष : 'भगण' को बनाये रखने के कारण ही अंतिम पंक्ति में अहीर की के स्थान पर 'अहीर कि' और छाछ पै के स्थान पर 'छाछ प' लिखा गया है।

घनाक्षरी : जिन छंदों में २६ से अधिक वर्ण प्रति चरण में होते है, उन्हें दण्डक वृत्त का छंद माना जाता है। घनाक्षरी भी दण्डकवृत्त का ही छन्द है। इसके दो मुख्य भेद हैं : (१) रूप घनाक्षरी और (२) देव घनाक्षरी। इन छन्दों में केवल वर्ण की समता देखी जाती है। इनमें गण-विधान नहीं होता है।

रूप घनाक्षरी : इसके प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं। प्रति ८ वर्ण पर यति होती है तथा अन्त में दो वर्ण (ऽ।) गुरु लघु क्रम में रखे जाते हैं।

उदाहरण—

नगर से दूर कुछ, गाँव को-सी बस्ती एक, ८+८
रहे भरे खेतों के समीप अति अभिराम। ८+८
जहाँ पत्र जाल अंतराल से झलकते हैं, ८+८
लाल खपरैल श्वेत छज्जों के संवारे धाम। ८+८
बीचों बीच वटवृक्ष खड़ा है विशाल एक, ८+८
झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटायें थाम। ८+८
चढ़ी मंजु मालती लता है जहाँ छाई हुई, ८+८
पत्थर की पट्टियों की चौकियाँ पड़ी हैं श्याम॥ ८+८

देव घनाक्षरी : इस छंद के प्रत्येक चरण में ३३ वर्ण होते हैं। हर चरण में ८, ८, ८, ९ के क्रम में यति देकर वर्णों का संयोजन होता है। चरण के अंत में एक शब्द का दो बार प्रयोग किया जाता है। अंत के ये दोनों शब्द नगण (।।।) क्रम में होते हैं।

उदाहरण —

झिल्ली झनकारें पिक, चातक पुकारैं बन,	८+८
मोरनि गुहारैं उठैं, जुगनू चमकि-चमकि ।	८+६
धो घन कारे भारे, धुरवा घुंरारे धाय,	८+८
धूमनि मचावैं नाचैं, दामिनी दमकि-दमकि ।	८+६
झूकनि बयारि बहै, लूकनि लगावैं अंग,	८+८
हूकनि भमूकनि की, उर में खमकि-खमकि ।	८+६
कैसे करि राखों प्रान, प्यारे जसवंत बिना,	८+८
नान्हीं-नान्हीं बूंद झरैं, मेघवा धमकि-धमकि ।	८+६

कवित्त : कवित्त-मनहर छंद के प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं जिसमें १६ व १५ वर्ण के क्रम से यति दी जाती है और चरण का अंतिम वर्ण गुरु होता है । उदाहरण—

लालची ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,	-१६
बदन मलीन, मन मिटै न बिसूरना ।	-१५
ताकत सराधे कै विवाह के उछाह कहु,	-१६
डोले लोल बूझत सबद ढोल तूरना ।।	-१५
प्यासे हू न पावें वारि, भूखे न चनक चारि,	-१६
चाहत अहारन पहार दारि कूरना ।	-१५
सोक को अगार दुख भार भरों तो लो जन,	-१६
जो लौं देवी द्रवैं न भवानी अन्नपूरना ।।	-१५

वर्ण-वृत्त छंद

इंद्रवज्रा—इस वर्ण-वृत्त छंद के प्रत्येक चरण में तगण तगण जगण गुरु गुरु के क्रम से ११ वर्ण होते हैं ।

उदाहरण — =(त त ज SS)

भागीरथी रूप अनूप कारी ।
चन्द्राननी लोचन कंज धारी ।
बाणी बखानी सुख तत्व सोध्यो ।
रामानुजै आदि प्रबोध बोध्यो ।।

उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा छन्द में जगण तगण जगण गुरु गुरु के क्रम से

प्रत्येक चरण में ११ वर्ण प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण—

बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै, (ज त ज SS)
परन्तु पूर्वापर सोच लीजै।
बिना विचारे यदि काम होगा,
कभी न अच्छा परिणाम होगा॥

(इन्द्रवज्रा का पहला वर्ण लघु कर देने से उपेन्द्रवज्रा छन्द बन जाता है। पहला वर्ण लघु करने पर तगण का जगण हो जाता है।)

वसंततिलका—तगण भगण जगण जगण गुरु गुरु के क्रम से इस छन्द के प्रत्येक चरण में १४ वर्ण होते हैं।

उदाहरण—

भू में रमी शरद की कमनीयता थी, (त भ ज ज SS)
नीला अनंत नभ निर्मल हो गया था।
थी छा गयी ककुभ में अमितासिताभा,
उत्फुल्ल-सी प्रकृति थी प्रतिभात होती॥

वंशस्थ : इस छंद के प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण, रगण के क्रम से १२ वर्णों को संयोजित किया जाता है।

उदाहरण—

निसर्ग ने सौरभ से पराग ने, (ज त ज र)
प्रदान की थी अति कांत भाव से,
वसुंधरा को, पिक को, मिलिंद को,
मनोज्ञता, मादकता, मदांधता॥

मालिनी : प्रारम्भ में दो नगण फिर एक मगण और दो यगण का क्रम रखकर मालिनी छंद की रचना की जाती है। इस प्रकार इस छंद में नगण नगण मगण यगण यगण के क्रम से प्रत्येक चरण में १५ वर्ण रखे जाते हैं।

उदाहरण—

प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है? (न न म य य)
दुख जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है?

मंदाक्रान्ता : इस छंद के प्रत्येक चरण में १७ वर्ण प्रयुक्त होते हैं। इनका क्रमायोजन मगण, भगण, नगण, तगण, तगण, SS के रूप में होता है।

उदाहरण --

कोई प्यारा कुसुम कुँभला मौन में जो पड़ा हो, (म भ न त त SS)
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ए पवन! बतला फूलसी एक बाला,
म्लान हो हो कमल-पग को चूमना चाहती है।

द्रुतविलंबित : नगण भगण भगण रगण के क्रम से द्रुतविलंबित छंद के प्रत्येक चरण में १२ वर्णों का संयोजन होता है। उदाहरण—

कह चुकी प्रिय साधन ईश का, (न भ भ र)
कुँवर का प्रिय साधन है यही।
इसलिए प्रिय की परमेश की,
परम पावन भक्ति अभिन्न है।

भुजंगप्रयात : भुजंगप्रयात छंद के प्रत्येक चरण में चार यगण के क्रम से १२ वर्णों का प्रयोग होता है। उदाहरण—

कहूँ किन्नरी किन्नरी लै बजावै, (य य य य)
सूरी आसुरी बाँसुरी गीत गावै।
कहूँ यक्षणी पच्छिनी लै पढ़ावै,
नगी कन्यका पन्नगी को नचावै॥

शिखरिणी : इस छंद के प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण लघु, गुरू के क्रम से १७ वर्ण संयुक्त होते हैं। उदाहरण—

अनूठी आभा से सरस सुषमा से सुरस से। (य म न स भ।S)
बना जो देती थी बहु गुणमयी भू-विपिन को।
निराले फूलों की विविध दल वाली अनुपमा।
जड़ी-बूटी नाना बहु फलवती थी बिलसती॥

शार्दूलविक्रीड़ित— शार्दूलविक्रीड़ित छंद के प्रत्येक चरण में १६ वर्ण होते हैं। इन वर्णों के संयोजन हेतु मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा एक गुरू का क्रम निर्धारित है। उदाहरण—

सूर्योद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना (म स ज स त त S)
तन्वङ्गी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली।

शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृग-दृगी-माधुर्य-संमूर्ति थीं ॥

नई कविता और लय

आधुनिक काल में कविता के विविध रूप सामने आए। द्विवेदी युगीन सुधारवादी रचनाओं के पश्चात् छायावाद का बोलबाला रहा। छायावादी कवियों ने अपनी भावाभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से की। अप्रस्तुत विधान, शब्द-ध्वनि, चित्रात्मकता आदि विशेषताओं को लेकर छायावादी कवियों ने छंद-बद्ध और लय पूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत कीं। प्रसाद, पंत, निराला आदि को इस क्षेत्र में अद्भुत सफलता मिली।

महादेवी वर्मा के गीतों में परोक्ष प्रियतम से मिलन की कामना का दर्शन कर समीक्षकों ने उन्हें रहस्यवादी कवयित्री कहा। उनकी रचनाओं में गेय तत्त्व का पूरा परिपाक दिखाई पड़ा। रहस्यवादी कवियों ने भी छंद-बंधन और लय-तत्त्व को सुरक्षित रखा।

निराशावादी और हालावादी कवियों—रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', रामकुमार वर्मा, हरिवंश राय बच्चन की कविताओं में छंद और लय का माधुर्य परिपुष्ट हुआ। उनकी गीतात्मकता बड़ी आकर्षक रही।

प्रगतिवाद के आगमन के साथ छंद के बंधन टूटे। मुक्त छंद का प्रयोग प्रारंभ हुआ, पर लय-तत्त्व को स्वीकृति मिलती रही। मुक्त छंद के प्रमुख प्रयोगकर्ता निराला ने लय-तत्त्व को पूर्ण मान्यता दी। उन्होंने छंद को स्वीकार करते हुए भी मुक्त छंद लिखने की परंपरा डाली।

तार सप्तक भाग १ के प्रकाशन के साथ प्रयोगवाद का सूत्रपात हुआ। इसी क्रम में कविता की भिन्न-भिन्न धाराएँ प्रवाहित होने लगीं। दूसरे सप्तक से प्रारंभ होने वाली धारा को नई कविता की संज्ञा प्राप्त हुई। कुछ लोगों ने नई कविता का आरंभ 'नये पत्ते' (१९५३ ई०) के प्रकाशन से माना है। नई कविता में लय स्वतः ही समाहित होती है। इसलिए इसका कवि लय-योजना के लिए प्रयत्नशील नहीं होता। उसके काव्य में लय से संबंध रखने वाले तत्त्व—गति, प्रवाह, यति आदि स्वतः आ जाते हैं।

१०

नाटक

परिभाषाएँ व सामान्य परिचय

सहृदय द्वारा काव्य या साहित्य की रसानुभूति में श्रवण और दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी आधार पर काव्य को दो भागों में बाँटा गया है : (१) श्रव्य काव्य (२) दृश्य काव्य। नाटक का स्थान दृश्य काव्य के अंतर्गत है। इसकी रसानुभूति के लिए दर्शक वर्ण्य वस्तु को रंगमंच पर प्रत्यक्ष देखना चाहता है। प्राचीन काल में सभी नाटक दृश्य होते थे, किन्तु आज श्रव्य और पाठ्य नाटकों की भी रचना हो रही है। रेडियो-रूपक श्रव्य नाटक के रूप में ही प्रतिष्ठित है। युगानुरूप यह परिवर्तन होने पर भी नाटक में अनुकरण का भाव निहित रहता है। आज नाटकों को हम रंगमंच पर अभिनीत होते हुए भी देखते हैं, साथ ही रेडियो-रूपक के रूप में जब हम उन्हें सुनते हैं तब भी नाटक के पात्रों का क्रिया-व्यापार हमारी कल्पना के रंगमंच पर प्रदर्शित होता रहता है। इसीलिए यह माना जाता है कि अनुकरण और अभिनय नाटक के प्रमुख तत्त्व हैं।

भारतीय दृष्टि से नाटक की परिभाषा में ही अनुकृति का भाव छिपा हुआ है। नाटक की दो परिभाषाएँ हैं :

(१) अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।

(२) तद्रूपारोपात्तुरूपकम्।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अवस्था का अनुकरण नाटक कहलाता है। नाटक का ही पर्यायवाची शब्द रूपक है। रूपक में रूप का आरोप होता

है। रूप का आरोप भी अनुकरण ही है। अतः अनुकरण को नाटक का भेदक तत्त्व कहना ही युक्तियुक्त है।

अभिनय

नाटक में अभिनयकर्ता या नट का और उसकी अभिनय कला का बड़ा महत्त्व है। नाटक का अभिप्रेत अभिनय होता है। अभिनेता इसे ही रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। इस प्रस्तुतीकरण को ही अभिनय कहते हैं। अभिनय की परिभाषा करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"अभिनय शब्द का अर्थ वह क्रिया है जो दर्शक को रसानुभूति की ओर ले जाए।" (साहित्य का साथी : पृ० १२३)

अभिनय चार प्रकार का माना गया है : (१) आंगिक (२) वाचिक (३) आहार्य (४) सात्विक। इनका परिचय निम्नांकित है :

आंगिक अभिनय : आंगिक अभिनय में पात्र अपने अंगों के संचालन से दर्शक को रसानुभूति की ओर ले जाता है। आँख मटकाने, सिर हिलाने तथा अन्य अवसरोपयोगी शारीरिक चेष्टाओं को आंगिक या कायिक अभिनय कहते हैं।

वाचिक अभिनय : वाचिक अभिनय में वाणी के प्रयोग, स्वर के आरोह-अवरोह का महत्व होता है।

आहार्य अभिनय : इसके अंतर्गत वेशभूषा तथा अन्य प्रकार के शृंगार की गणना होती है।

सात्विक अभिनय : इसमें स्वेद, प्रकम्प, रोमांच आदि का समावेश रहता है। अभिनेता जब किसी भाव दशा में लीन हो जाता है तब उसके शरीर पर सहज प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इन्हीं प्रतिक्रियाओं को सात्विक अभिनय कहा गया है। इनका प्रभाव दर्शक की रसानुभूति को तीव्रता प्रदान करता है।

उपर्युक्त चारों प्रकार के अभिनयों की सामूहिकता नाटक को प्रभावशाली बना देती है।

नाटक के तत्त्व :

भारतीय विचारकों और आचार्यों के मतानुसार नाटक के चार प्रमुख तत्त्व हैं—वस्तु, पात्र, रस और अभिनय। अभिनय के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। शेष तीन तत्त्वों—वस्तु, पात्र और रस पर विचार करना आवश्यक है।

वस्तु : नाटक के कथानक को 'वस्तु' कहते हैं। कथानक या कथावस्तु को स्रोत के आधार पर तीन भागों में बाँटा गया है—(१) प्रख्यात (२) उत्पाद्य

(२) मिश्रित। प्रख्यात कथानक इतिहास या पुराण के अनुसार स्वीकार किया गया है। उत्पाद्य कथानक लेखक की कल्पना से गठित होता है और मिश्र कथानक प्रख्यात तथा उत्पाद्य कथानक के संयोग से रचित होता है। इसमें लेखक प्रख्यात कथावस्तु को लेकर उसे अपनी कल्पना से नया रूप प्रदान करता है। कथानक के इसी आधार पर ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, वैज्ञानिक आदि विभिन्न श्रेणियों के नाटकों की रचना की जाती है।

कथावस्तु या कथानक का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से भी किया गया है। इस वर्गीकरण का आधार कथानक की महत्ता है। वर्गीकरण के इस आधार के अनुसार कथावस्तु के मुख्य दो भेद हैं : (१) आधिकारिक या मुख्य कथानक (२) प्रासंगिक या गौण कथानक। प्रासंगिक कथानक पुनः दो रूप में विभक्त है (i) पताका (ii) प्रकरी। जो कथा नायक के साथ जुड़ी होती है, उसे आधिकारिक कथा कहते हैं। उसके साथ जो अन्य कथाएं चलती हैं, उन्हें प्रासंगिक कथा कहा जाता है। वह प्रासंगिक कथा, जो मुख्य कथा न होते हुए भी नायक के साथ बढ़ती जाती है, पताका कथा कहलाती है। इन कथा-प्रसंगों के साथ कुछ ऐसी कथाएं भी रहती हैं जो कुछ दूर तक चलकर समाप्त हो जाती हैं। उन्हें प्रकरी कथा कहते हैं।

पात्र : नाटक के कथानक को प्रस्तुत करने वाले पात्रों में मुख्य पात्र को नेता या नायक कहते हैं। नायक को केन्द्र में रखकर ही संपूर्ण कथावस्तु का संगठन होता है। उसका मनोरंजन करने के लिए विदूषकों को नाटक में स्थान दिया जाता है। ये विदूषक मनोरंजन करने के साथ ही कभी-कभी बड़ी महत्वपूर्ण बातों की सूचना देते हैं। नायक का प्रमुख सहायक पीठमर्द तथा नायक के साथ सदा रहने वाला पताका नायक कहलाता है। इन सबके अतिरिक्त नायक का प्रमुख विरोधी प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत रहता है। पुरुष वर्ग में इन पात्रों के साथ ही स्त्री पात्रों को भी रंगमंच पर उतारा जाता है। नायक के साथ नायिका की स्थिति रहती है। नायिका की सखियों, परिचारिकाओं का भी नाटक में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

भारतीय आचार्यों ने धीरता, उदारता आदि गुणों के आधार पर चार प्रकार के नायकों की गणना की है।

१. धीरोदात्त :—धीरोदात्त नायक अति गंभीर, क्षमावान, धैर्य-संपन्न, दृढ़व्रती, स्थिर बुद्धि तथा अहंकार शून्य होता है। उसका हृदय शोक, भय आदि से मुक्त रहता है।
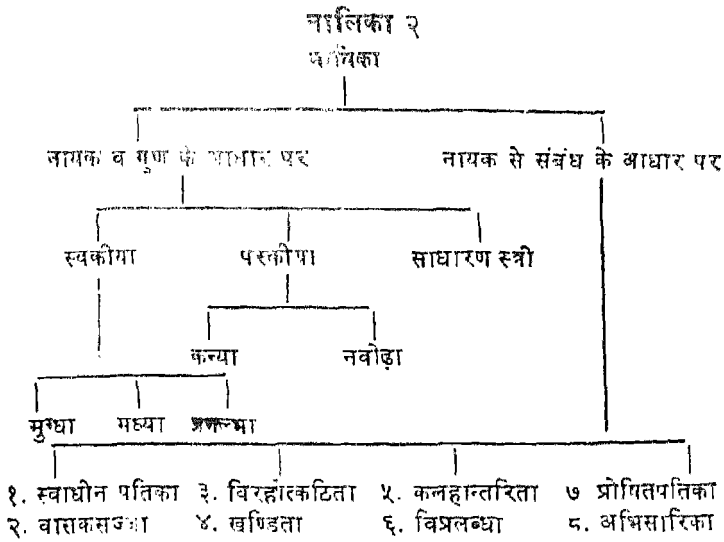
(नायक-नायिकाओं के गुण मूलक वर्गीकरण का विशेष महत्त्व है, अतः इस आधार पर ही भेदों का उल्लेख किया गया है।)

रस

रस नाटक का मूल तत्व है। उसे काव्य की आत्मा कहते हैं। नाटक-दर्शन से सहृदय (दर्शक) में जो आनन्दानुभूति होती है, उसे ही 'रस' माना गया है। शृंगार, वीर और करुण में से कोई एक नाटक का प्रमुख रस होता है। अन्य रसों का समावेश सहायक रसों के रूप में होता है। मुख्य रस की पुष्टि करने तथा प्रभावान्विति बनाए रखने में अन्य रस सहायक सिद्ध होते हैं।

पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के प्रमुख तत्व हैं : (१) कथानक (२) संवाद (३) चरित्र-चित्रण (४) संकलनत्रय (देश, काल कार्य की एकता) (५) उद्देश्य।

कथानक : कथानक संगठन के लिए भारतीय काव्यशास्त्र में कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों को महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक के ५-५ भेद किए गए हैं।

कार्यावस्था : इनकी संख्या ५ है :

(१) **आरंभ** —नाटक का वह अंश है जहाँ से कथानक को गतिशीलता प्राप्त होती है तथा फल-प्राप्ति की उत्कंठा जागृत होती है। (२) **प्रयत्न**—फल प्राप्ति का प्रयत्न जहाँ से प्रारंभ होता है, वह अवस्था ही प्रयत्न है। (३) **प्राप्त्याशा**—फल-प्राप्ति की आशा जहाँ से आरम्भ होने लगती है, वहाँ प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था मान्य होती है। (४) **नियताप्ति**—प्राप्त्याशा के निश्चय अर्थात्

फल प्राप्ति की आशा सुनिश्चित होने की स्थिति [illegible] है।
(५) फलागम जब निश्चित फल की प्राप्ति [illegible] सात्मक
कार्यावस्था की पूर्ति होती है।

भारतीय दृष्टि से 'फलागम' का विधान [illegible] भारतीय
नाटक सुखान्त होते हैं। निश्चित फल की प्राप्ति [illegible] होती है,
अतः अन्त में सुख की प्राप्तिवश [illegible] होती है।
पाश्चात्य सिद्धान्त में यह स्थिति नहीं है। [illegible] की
छह स्थितियाँ हैं—

(१) स्पष्टीकरण (एक्सपोज़िशन)—[illegible] देने
की अवस्था।
(२) आरंभिक घटनाएँ (इनिशियल इंसिडेन्ट)—[illegible] गतिशील
बनाने वाले आंतरिक और बाह्य संघर्षों [illegible] का प्रत्यक्षी-
करण।
(३) विकासावस्था (राइजिंग एक्शन)—[illegible] और संघर्षों का
क्रमशः उग्र होना
(४) चरम-सीमा (क्लाइमेक्स)—घटनाओं और संघर्षों का उत्कर्ष हो
जाना।
(५) निगति या ह्रास (डेनूमो)—संघर्ष व घटनाओं की चरम अवस्था
का शमनोन्मुख होना। एक पक्ष की विजय और दूसरे की पराजय
की संभावना का स्पष्ट होना।
(६) शमन (कैटेस्ट्रॉफी)—घटनाओं का पूर्ण शमन और फल-प्राप्ति।

पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार लिखे गए नाटकों के कथानकों में संघर्ष को प्रधानता प्राप्त होती है। उनकी दृष्टि से परिणाम का सुखकारी होना आवश्यक नहीं होता। परिणाम जब सुखकारी होता है, तब नाटक सुखान्त (कॉमेडी) माना जाता है। इसके विपरीत जब वह दुःखकारी होता है, तब उसे दुःखांत या त्रासद (ट्रेजडी) मानते हैं। त्रासद नाटकों में प्रिय पात्र की दुखद स्थिति देखकर दर्शक दुःख की अनुभूति करता है। इसमें उसमें रेचन क्रिया होती है और उसका हृदय व चरित्र निर्मलता को प्राप्त होता है। अपनी इस मान्यता के कारण पाश्चात्य नाटककार अपने कथानकों का संगठन 'त्रासद' रूप में ही मुख्यतः करते रहे हैं।

भारतीय दृष्टि से कथानक के संगठन में कार्यावस्थाओं के अतिरिक्त अर्थ-प्रकृतियों और संधियों को भी स्वीकृति प्राप्त है, किन्तु पाश्चात्य दृष्टि से केवल उपर्युक्त वर्णित छह अवस्थाओं को ही मान्यता मिली है।

अर्थप्रकृतियों और संधियों का परिचय निम्नांकित है।

अर्थप्रकृति : कथानक को कार्यावस्थाओं की ओर मोड़ने वाली स्थिति को अर्थप्रकृति कहा गया है। अर्थप्रकृतियाँ कार्यावस्थाओं के कारणरूप में उपस्थित रहती है। पांच कार्यावस्थाओं के अनुरूप ही पांच अर्थप्रकृतियाँ भी स्वीकृत है। कथा-संगठन को फल तक पहुँचाने वाले उपाय के रूप में पाँच अर्थ-प्रकृतियों का महत्व मान्य है—

(क) बीज अर्थप्रकृति : बीज अर्थप्रकृति वह आदिभाव है जिससे अन्य अर्थप्रकृतियों का विकास होता है और उनके द्वारा कार्यावस्थाएँ प्रकाशित होकर कार्य सिद्धि की ओर अग्रसर होती हैं।

जिस प्रकार बीज ही बढ़कर वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार नाट्य-वृक्ष का सूत्रपात बीज नामक अर्थप्रकृति से होता है।

(ख) बिन्दु अर्थप्रकृति : बिन्दु को विस्तार का सूचक माना गया है। तेल का बिन्दु जैसे जल-तल पर फैल जाता है, उसी प्रकार बिन्दु वह स्थल है जहाँ से कथा फैलने लगती है। कथा का विस्तार जहाँ से लक्षित होने लगता है, उस स्थल पर 'बिन्दु अर्थप्रकृति' मान्य होती है।

(ग) पताका अर्थप्रकृति : पताका नायक से संबंधित घटनाओं और कथाओं का जहाँ से प्रारंभ होता है, वहाँ पताका अर्थप्रकृति प्रकाशित रहती है।

(घ) प्रकरी अर्थप्रकृति : नाटक के मध्य प्रासंगिक कथाओं के रूप में कुछ ऐसे प्रसंग आते हैं जो कुछ काल तक व्याप्त रहकर समाप्त हो जाते हैं। इन्हें 'प्रकरी कथा' कहते हैं। इनसे संबंधित अर्थप्रकृति ही प्रकरी अर्थप्रकृति होती है।

(ङ) कार्य अर्थप्रकृति : जिस प्रयोजन को लेकर नाट्य-रचना की जाती है, उसे प्रकाशित करने वाली अर्थप्रकृति को कार्यप्रकृति कहा गया है। यह फलागम नामक कार्यावस्था के कारण-स्वरूप विद्यमान रहती है।

पाँच कार्यावस्थाओं के कारण रूप पाँच अर्थप्रकृतियों को देखने से स्पष्ट है कि इन कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों में घनिष्ट संबंध है। इनको संयुक्तकर पाँच संधियों को मान्यता दी गई है। संधियों के द्वारा नाटक का रस-तत्त्व उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इन संधियों को निम्नांकित आरेख द्वारा समझा जा सकता है :

क्र० संख्या	कार्यावस्था	+	अर्थप्रकृति	=	संधि
(१)	आरंभ	+	बीज	=	मुख संधि
(२)	प्रयत्न	+	बिन्दु	=	प्रतिमुख संधि
(३)	प्राप्त्याशा	+	पताका	=	गर्भ संधि
(४)	नियताप्ति	+	प्रकरी	=	विमर्श संधि
(५)	फलागम	+	कार्य	=	निर्वहण संधि

पाँच संधियों की योजना होने के कारण भारतीय आचार्यों ने नाटक के लिए पाँच अंक का विधान किया है। इसीलिए प्राचीन नाटकों की कथावस्तु पाँच अंकों में विभक्त होती थी। आज स्थिति बदल गई है। पाश्चात्य प्रभाव-वश संधि-विधान शिथिल हो गया है और नाटक तीन अंकों में लिखे जा रहे हैं। आज एकांकी रचना की ओर विशेष प्रवृत्ति है।

संवाद : संवाद या कथनोपकथनों का नाटक में बड़ा महत्त्व है। पात्रों के अवसरोचित, प्रभावशाली संवाद नट के कायिक व वाचिक अभिनय द्वारा सहृदय के समक्ष प्रस्तुत होकर उसे प्रभावित करते हैं। इससे रसानुभूति को उत्कर्ष प्राप्त होता है।

संवाद से ही कथानक का विकास होता है। चरित्रों के उद्घाटन में भी संवादों की भूमिका होती है। संवाद के माध्यम से ही नाटककार कथावस्तु को स्पष्ट करता है तथा चरित्र-चित्रण का कार्य संपन्न करता है। शिथिल संवाद या कथनोपकथन के होने पर नाटक का प्रभाव भी शिथिल हो जाता है।

नाटक की घटनाओं के दो रूप दिखाई पड़ते हैं। कुछ घटनाएँ तो रंगमंच पर घटित होती हैं और कुछ की सूचना मात्र प्राप्त होती हैं। जिन घटनाओं की सूचना मात्र मिलती है, उन्हें सूच्य कथा कहा जाता है। सूच्य कथा को सूचित करने के लिए संवाद की विविध शैलियों को स्वीकार किया गया है। इन शैलियों की समष्टि अर्थोपक्षेपक कहलाती है। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार का होता है —(क) विष्कंभक (ख) चूलिका (ग) अंकास्य (घ) अंकावतार (ङ) प्रवेषक। आधुनिक नाटकों में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

रंगमंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले संवाद भी तीन प्रकार से उपस्थित किए जाते हैं : (१) सर्व श्राव्य (२) अश्राव्य (३) नियत श्राव्य।

सर्व श्राव्य कथनोपकथन या संवाद : रंगमंच पर सबको सुनाने के लिए जो संवाद प्रस्तुत होता है उसे सर्वश्राव्य कहते हैं। इन संवादों को अभिनेता, दर्शक सभी सुनते हैं।

अश्राव्य कथनोपकथन या संवाद : जिन संवादों को दर्शक को सुनाना अभीष्ट रहता है किन्तु अभिनेताओं को सुनाना इच्छित नहीं रहता है, उन्हें अश्राव्य संवाद कहते हैं। इन्हें प्रस्तुत करने के लिए स्वगत और आकाश-भाषित का प्रयोग किया जाता है। स्वगत में एक पात्र अकेला ही संवाद प्रस्तुत करता है। आकाशभाषित में पात्र आकाश की ओर मुँह कर संवाद-

कथन करता है। आकाश की ओर मुँह करने से यह ज्ञात होता है कि अन्य पात्र उसकी कही गई बातों को नहीं सुन रहे हैं।

नियत श्राव्य कथोपकथन या संवाद : रंगमंच पर स्थित पात्रों में से कुछ को संवाद सुनाना हो और कुछ को न सुनाना हो तब नियत श्राव्य-कथनोपकथन का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए उँगलियों की ओट लेकर या कुछ पात्रों की ओर से मुँह मोड़कर संवाद-कथन का विधान होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उचित नहीं माना जाता है।

चरित्र-चित्रण : नाटककार अपनी पात्र-योजना के द्वारा विभिन्न प्रकार के चरित्रों से हमें परिचित कराता है। इसके लिए वह पात्रों के संवाद का माध्यम ग्रहण करता है। चरित्र-चित्रण की दो पद्धतियाँ हैं—(i) वर्गगत चरित्र-चित्रण (ii) व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण। जब किसी पात्र को किसी वर्ग का प्रतिनिधि बनाकर रंगमंच पर उतारा जाता है तब उस पात्र का चरित्र वर्गगत माना जाता है। इसके विपरीत कुछ पात्र अपनी चारित्रिक मौलिकता के साथ अपनी क्रियाएँ करते हैं। ऐसे चरित्रों को व्यक्तिगत चरित्र की संज्ञा प्राप्त है। पात्रों के सफल चरित्र-चित्रण से ही नाटक में अभिनय की सफलता आती है। लेखक का सफल चरित्रांकन नट को सफल अभिनय की प्रेरणा देता है। नाटककार अपने विभिन्न पात्रों—नायक, नायिका, पीठ-मर्द, पताका नायक, प्रतिनायक, प्रकरी कथाओं के बीच आने वाले स्त्री-पुरुष, विदूषक, आदि—के मनोभावों और व्यक्तित्व को जिस रूप में देख-सुन कर स्वयं प्रभावित हुआ रहता है, उसी रूप में उन्हें अपने नाटक में प्रतिष्ठित करता है। सफल चरित्र-चित्रण नाटक के प्रभाव-पक्ष को सुदृढ़ बनाता है।

देश, काल, कार्य की एकता (संकलनत्रय) : पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के अनुसार देश, काल, कार्य की एकता को नाटक के लिए आवश्यक माना गया है। इन तीनों की एकता को ही 'संकलनत्रय' कहते हैं। देश की एकता का अर्थ है नाटक में एक देश की घटना का कथन। ऐसा न होने पर नाटक की प्रभावान्विति में कमी आ जाती है। कई देशों की घटनाओं को प्रस्तुत करने पर दर्शक उनके बीच संबंध-स्थापना नहीं कर पाते हैं और नाटक का प्रभाव क्षीण हो जाता है। इसीलिए एक भौगोलिक सीमा अर्थात् देश की ही घटनाओं के कथन को श्रेयस्कर समझा गया है।

काल की एकता का भी मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। किसी नाटक की घटना का चयन करते समय काल-सीमा पर ध्यान रखना चाहिए। पचास वर्ष के काल का चयन कर अगर उसकी घटनाओं को तीन घण्टे में दिखाने का

उपक्रम किया जायगा तो सफलता नहीं मिल सकेगी। इतने बड़े काल को इतने अल्प समय में दिखाना अनुचित होगा। अतः यह देखना आवश्यक है कि कितने समय की घटना को नाटक में प्रस्तुत किया जाए, जिसमें समय सीमा में दर्शक उन्हें आनन्दपूर्वक देख सकें। इसी आवश्यकता को समझते हुए काल की एकता पर विचारकों ने बल दिया है।

कार्य की एकता नाटक में बिखराव नहीं आने देती। विविध कथाओं को नाटक में स्थान दे देने से नाटक बिखर जाता है।। यह ठीक नहीं माना जाता है। अतः अभिनेय कथावस्तु एक हो, इस बात पर बल दिया गया है। इसे ही कार्य की एकता कहते हैं। इसे बनाए रखने के लिए प्रासंगिक कथाओं का कम से कम प्रयोग वांछित होता है।

देश, काल, कार्य की समन्वित एकता से युक्त नाटक सफल नाटक माना जाता है। ऐसे नाटकों का दर्शक के मन पर बड़ा ही मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। अतः इन तीनों तत्त्वों की एकता पर दृष्टि रखनी चाहिए।

उद्देश्य : प्रत्येक रचना के पीछे कोई उद्देश्य अवश्य होता है। 'कला कला के लिए' को अब मान्यता प्राप्त नहीं है। अब तो कला जीवन के लिए प्रस्तुत की जाती है। साहित्य का भी उद्देश्य होता है। नाटक को कुछ समीक्षकों ने पाँचवा वेद कहा है अर्थात् नाटक के माध्यम से ज्ञान देने का उद्देश्य सिद्ध होता है। भारतीय मनीषियों ने नाटक के माध्यम से ज्ञान की बातों को दर्शक के समक्ष प्रस्तुत कर उन्हें ज्ञान-बोध कराने की बात कही है। पाश्चात्य दृष्टि से भी नाटक में उद्देश्य तत्त्व को महत्त्व दिया गया है। वर्तमान समय के समस्या-मूलक नाटकों में तो उद्देश्य की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। उद्देश्य की पूर्ति की ही इच्छा से सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों की रचना की जाती है। जिस उद्देश्य को प्रकाशित करना होता है, उसके अनुरूप कथानक का संगठन किया जाता है।

दृश्य काव्य (नाटक) के भेद

पाश्चात्य दृष्टि से नाटक ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि श्रेणियों में बाँटे गए हैं। यह विभाजन विषय-वस्तु की दृष्टि से किया गया है।

भारतीय दृष्टि से नाटक को दो वर्गों में विभक्त किया गया है: (१) रूपक (२) उपरूपक। रूपक को पुनः १० प्रकार का बताया गया है और उप-रूपक के १८ भेद किए गए हैं। इन भेदों का नाम जानने के लिए आगे दिया गया आरेख उपयोगी सिद्ध होगा।

दृश्य काव्य

- रूपक
  - नाटक (१)
  - प्रकरण (२)
  - भाण (३)
  - व्यायोग (४)
  - समवकार (५)
  - डिम (६)
  - ईहामृग (७)
  - अंक (८)
  - बीथी (९)
  - प्रहसन (१०)
- उप रूपक
  - नाटिका (१)
  - त्रोटक (२)
  - गोष्ठी (३)
  - सट्टक (४)
  - नाट्यरासक (५)
  - प्रस्थानक (६)
  - उल्लाप्य (७)
  - काव्य (८)
  - प्रेखण (९)
  - रासक (१०)
  - संलापक (११)
  - श्री गदित (१२)
  - शिल्पक (१३)
  - विलासिका (१४)
  - दुर्मल्लिका (१५)
  - प्रकरणिका (१६)
  - हल्लीश (१७)
  - भाणिका (१८)

उपर्युक्त भेदों का निरूपण आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र नामक ग्रन्थ में हुआ है। वर्तमान समय में इन रूपों में लिखे गए नाटक प्राप्त नहीं हो रहे हैं। उपरूपक के १८ भेदों में से नाटिका, नाट्यरासक का प्रणयन ही हिन्दी में हुआ है। भारतेन्दु कृत 'चन्द्रावली' एक नाटिका है तथा 'भारतेन्दु [illegible]' नाट्य रासक है।

नाटक में पाँच अंक मान्य होते हैं। भारतीय पद्धति पर लिखे गए नाटकों में पाँच अंकों की ही योजना मिलती है। रूपक के अन्य भेदों में से 'भाण', 'व्यायोग' और 'प्रहसन' का लेखन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया है। 'विषस्य विषमौषधम्' भाण का उदाहरण है, 'धनंजय विजय' व्यायोग है और 'अन्धेर नगरी' प्रहसन है।

भाण, व्यायोग, प्रहसन आदि को कुछ लोग एकांकी के रूप में मान्यता देते हैं। एकांकी की विधा इन सबसे भिन्न है। उसका कथा-शिल्प भी सर्वथा भिन्न है। आज का एकांकी पाश्चात्य शैली से प्रभावित है। शैली की दृष्टि से पाश्चात्य शैली पर लिखित नाटक के निम्नांकित भेद मिलते हैं :

(१) नाटक (२) एकांकी (३) गीति नाट्य (४) रेडियो रूपक। नाटक की चर्चा विस्तार के साथ हो चुकी है, अतः अन्य नाट्य-रूपों पर विचार करना समीचीन होगा।

एकांकी स्वरूप और शिल्प

एकांकी एक स्वतंत्र विधा के रूप में आज अपना प्रभाव स्थापित किए हुए है। इसे नाटक का लघु-संस्करण कहना उचित नहीं। इसका अपना शिल्प विधान है और यह गद्य की स्वतंत्र विधा के रूप में मान्य है।

एकांकी में किसी घटना-विशेष या किसी समस्या-विशेष का कथन होता है। एकांकीकार चरित्र के किसी एक पक्ष को ही प्रकाशित कर दर्शक का ध्यान उस चरित्र की ओर आकृष्ट कर लेता है। अभिनय के माध्यम से किसी मार्मिक घटना, चारित्रिक प्रसंग या विशिष्ट समस्या को प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत कर देना, एकांकी का लक्ष्य माना गया है। नाटक की अपेक्षा एकांकी में सहृदय के मर्म को छू लेने की अधिक शक्ति होती है।

एकांकी के तत्त्व

नाटक की ही भाँति एकांकी में भी कथावस्तु, संवाद, चरित्र-चित्रण, देश-काल कार्य की एकता, अभिनेयता और उद्देश्य को मान्यता प्राप्त है, किन्तु इन तत्त्वों को संयोजित करने का कौशल नाटक से एकांकी को भिन्नता प्रदान करता है। इसीलिए एकांकी की दृष्टि से भी इन तत्त्वों पर विचार कर लेना आवश्यक है :

(१) **कथावस्तु** : एकांकी का कथानक प्रारंभ से ही उत्सुकता उत्पन्न करने वाला होता है। इसका कथानक पूर्व घटित आवश्यक प्रसंगों का संकेत करता हुआ तीव्रगति से [illegible] की ओर बढ़ता जाता है। उसमें कुतूहल वृत्ति प्रारंभ से अन्त तक बनी रहती है [illegible] में प्रभावान्विति की सबलता के कारण यह कथानक दर्शकों का अभि[illegible] है।

(२) **संवाद (कथनोपकथन)** : एकांकी के कथनोपकथन नाटक की अपेक्षा अधिक चुस्त और प्रभावकारी होते हैं। कथनोपकथन के माध्यम से एकांकी-लेखक पूर्व प्रसंगों को संक्षेप में उपस्थित करता है और कथानक को तीव्र गति से बढ़ाता हुआ चरित्र के विशिष्ट पक्ष को प्रकाशित करता है।

(३) **चरित्र-चित्रण** : एकांकीकार के पास चरित्र-प्रकाशन का अवसर कम रहता है, इसलिए वह सीमित संख्या में पात्रों को चुनता है और इनके ही विशिष्ट चरित्रों का प्रकाशन करता है। पात्रों की संख्या तीन या चार हो तो एकांकी में चरित्र-चित्रण की स्थिति अधिक सफल रहती है।

(४) **देश-काल-कार्य की एकता** : प्रभाव की सघनता के लिए अनुकूल वातावरण की अपेक्षा होती है। इसे प्राप्त करने के लिए देश-काल-कार्य की एकता आवश्यक होती है। एकांकी में विस्तार की कमी होती हैं अतः सीमित समय में जितनी घटना दिखाई जा सके, जितनी भौगोलिक-सीमा को उपस्थित किया जा सके उतना ही स्वीकार किया जाए। इससे प्रभावान्विति में तीव्रता होगी।

एकांकी में वातावरण का प्रस्तुतीकरण करने के लिए अभिनय, बाह्य सज्जा, और रंग-संकेतों पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है। प्रकाश और छाया, संगीत-ध्वनि और वाद्य-ध्वनि के योग से वातावरण-सृजन कर एकांकी को प्रभावशाली बनाया जाता है।

(५) **अभिनेयता** : एकांकी में अभिनेयता का प्रमुख स्थान है। इसको प्रभावशाली बनाने का उद्देश्य लेकर ही कथानक और संवाद का संगठन किया जाता है।

(६) **उद्देश्य** : आनन्दप्रद पद्धति पर किसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करना एकांकी का मुख्य उद्देश्य माना गया है। इस उद्देश्य की सिद्धि हेतु एकांकी में प्रहसन, व्यंग्य आदि का भी समावेश किया जाता है।

हिन्दी के प्रमुख एकांकीकार :—डॉ० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्द दास, विष्णु प्रभाकर, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल आदि।

नाटक के अन्य आधुनिक रूप

गीति-नाट्य : संगीतात्मक, भावात्मक और कवित्वमय भाषा-शैली में गीति-नाट्य की रचना की जाती है। गीति-नाट्यों में भावुकता और लय-तत्त्व का सुन्दर समावेश मिलता है। वस्तुतः गीति-नाट्य काव्य रूप होते हैं। इन में अभिनय तत्त्व की विशेषता होने के कारण इन्हें काव्य से पृथक एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकार किया गया है।

रेडियो नाटक : रेडियो-तकनीक के आधार पर रेडियो-रूपक या रेडियो नाटक की नयी विधा प्रचलित हुई है। रेडियो-नाटक में ध्वनि-तत्त्व की विशेषता होती है। ध्वनि-तत्त्व ही इसका भेदक-तत्त्व माना जाता है इसलिए इसे 'ध्वनि-रूपक' भी कहते हैं। कथावस्तु के उतार-चढ़ाव को ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त करने की जितनी अधिक क्षमता ध्वनि-रूपकों में होती है, उन्हें उतना ही सफल माना जाता है। इस विधा में दृश्य-परिवर्तन की सूचना का माध्यम भी ध्वनि को ही बनाया जाता है और ध्वनि के द्वारा ही वातावरण का भी सृजन किया जाता है। युद्ध, आँधी, वर्षा आदि की सूचना ध्वनि द्वारा ही दी जाती है।

रेडियो नाटक कई रूपों में आज विकास पा रहा है। संगीत रूपक, भाव-नाट्य-झलकियाँ, रूपान्तर (फीचर) आदि रेडियो नाटक के ही विविध भेद हैं।

'संगीत-रूपक' संगीतमय होता है। इसमें गीतों की विशिष्ट योजना होती है। कथा-प्रसंग की सूचना के लिए बीच-बीच में यथा अवसर वाचक गद्य का भी व्यवहार करता रहता है।

'भाव-नाट्य' में भावुकता, गीत और छन्द की बहुलता रहती है। प्रेम, करुणा आदि कोमल भावों को ही आधार बनाकर भाव-नाट्य लिखे जाते हैं।

'झलकियों' का लेखन व्यंग्य-हास की व्यंजनामयी शैली में होता है। जीवन के किसी एक पक्ष को विषय बनाकर झलकियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। संक्षिप्तता इनकी विशेषता होती है।

'रूपान्तर या फीचर' के लेखन में किसी कहानी, नाटक या उपन्यास को ध्वनिरूपक के रूप में ढाल देने का कौशल विद्यमान रहता है। कथा-सूत्र की सूचना संचालक द्वारा बीच-बीच में दी जाती है और सारी कथावस्तु का संयोजन इस रूप में होता है कि वह लगभग ३० मिनट में प्रस्तुत की जा सके।

विज्ञान के बढ़ते चरण ने 'टेलिविजन' भी उपस्थित कर दिया है। टेलिविजन या दूरदर्शन पर भी नाटक दिखाया जा रहा है। दूरदर्शन पर दिखाए जाने वाले नाटकों में रंगमंचीय तत्त्व, छाया-प्रकाश का प्रयोग, ध्वनि का संयोजन विशेष महत्त्व रखता है।

रूपक-भेद सारणी

क्र० सं०	(रूपक के भेद) नाम	पात्र	नायक	रस	अंक	कथानक	कथनोपकथन
१	नाटक	—	धीरोदात्त, राजा	वीर या शृंगार	५	प्रख्यात	संवाद-प्रधान
२	प्रकरण	—	धीर प्रशांत, मंत्रीपुत्र, ब्राह्मण, वणिक	शृंगार	५	उत्पाद्य	संवाद-प्रधान
३	भाण	एक पात्र	—	हास्य	१	धूर्तों का परिचय	आकाश-भाषित
४	व्यायोग	पुरुष अधिक व नारी कम	धीरोद्धत	वीर	१	प्रख्यात	संवाद-प्रधान
५	समवकार	देवासुर	१२ नायक	वीर	३	प्रख्यात	संवाद-प्रधान
६	डिम	—	१६ नायक	रौद्र	४	माया-इन्द्रजाल समन्वित कथानक (शृंगार, हास्य न हो)	संवाद-प्रधान
७	ईहामृग	—	धीरोद्धत	वीर	४	प्रख्यात/उत्पाद्य मिश्रित	संवाद-प्रधान
८	अंक	—	साधारण पुरुष	करुण	१	प्रख्यात	स्त्री-विलाप का आधिक्य
९	वीथी	एकपात्र	किसी कोटि का एक नायक	शृंगार	—	—	आकाश-भाषित
१०	प्रहसन	—	—	हास्य	१	उत्पाद्य	संवाद-प्रधान

आधुनिक युग में नाटक के प्रस्तुतीकरण की अनेक शैलियाँ प्रयोग में आ रही हैं। नाटक एक सशक्त साहित्यिक विधा के रूप में आज उत्कर्ष को प्राप्त है। भारतीय आधार पर कथित भेद — १० रूपक और १८ उपरूपक — प्रायः लुप्त से हैं, किन्तु नई शैली और नई तकनीकों से युक्त नाटक, एकांकी, गीत-नाट्य, रेडियो-रूपक आदि का निरन्तर विकास होता जा रहा है।

भारतीय दृष्टि से किए गए रूपक के १० भेदों की विस्तृत चर्चा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अभीष्ट नहीं थी। इसलिए १० रूपकों और १८ उपरूपकों का नाम सूचित करने वाली तालिका पृष्ठ ७१ पर प्रस्तुत कर, उसकी व्याख्या नहीं की गई है। इच्छुक जन १० रूपकों का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकें, इस भावना से पृष्ठ ७५ पर रूप-भेद सारिणी प्रस्तुत की गई है।

११

कथा-साहित्य

कथा साहित्य की दो प्रमुख विधाएँ हैं—उपन्यास और कहानी। उपन्यास में साहित्य के तीनों तत्वों—भाव, कल्पना और बुद्धि का नियोजन होता है। हिन्दी में उपन्यास-लेखन बहुत कुछ अंग्रेजी के प्रभाववश आरंभ हुआ। किंतु शीघ्र ही हिंदी उपन्यासों का अपना स्वतंत्र रूप विकसित हुआ।

(क) उपन्यास : परिभाषा और परिचय

उपन्यास शब्द उप + न्यास से बना है। 'उप' का अर्थ समीप तथा 'न्यास' का अर्थ थाती है। अर्थात उपन्यास शब्द का अर्थ हुआ—मानवमात्र के पास रखी हुई वस्तु। वह वस्तु अथवा कृति जिसे पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे जीवन का ही प्रतिबिम्ब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी भाषा में कही गई है। उपन्यास का शाब्दिक अर्थ है बृहत् आकारमय गद्य आख्यान या वृत्तांत जिसके अंतर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया गया है। गद्य की इस विधा के संबंध में लेखकों ने अपने विचार निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किए हैं :

१. उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।

—बाबू श्याम सुन्दर दास

२. मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।······चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता-अभिन्नता में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है। —मुंशी प्रेमचन्द

3. उपन्यास कार्य-कारण शृंखला में बँधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक व काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्‌घाटन किया जाता है। —बाबू गुलाब राय

उपन्यास का शाब्दिक अर्थ है—"बृहत् आकार गद्य आख्यान या वृत्तान्त जिसके अंतर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाता है।"

ये सभी परिभाषाएँ एक ही बात पर जोर देती हैं कि उपन्यास में मानव जीवन का प्रतिनिधित्व हो, घटनाएँ शृंखलाबद्ध हों, वास्तविकता की सेवा में नियोजित कल्पना हो।

उपन्यास के तत्व : उपन्यास-रचना में सहायक अवयवों को ही उपन्यास का तत्त्व कहा गया है। कथानक, कथनोपकथन, चरित्र-चित्रण, देश-काल-(पात्र), उद्देश्य और भाषा-शैली उपन्यास के छह तत्त्व हैं। इनका परिचय निम्नांकित है—

कथानक : उपन्यास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व कथानक ही होता है। कथानक उपन्यास का आधार होता है। जिस उपन्यास की कथावस्तु जितनी ही शिथिल होती है, उसके अन्य तत्त्व भी उतने ही लचर होते हैं। असंगत और शिथिल कथानक चरित्र-चित्रण और वातावरण-कथन में असमर्थ होता है। इसीलिए कथानक संगठन के प्रति सतर्कता अपेक्षित होती है। जीवन से सम्बन्धित उन सभी घटनाओं को कथानक कहा जाता है जिन्हें कारण-कार्य शृंखला में बाँध कर क्रमबद्ध रूप से लेखक अपने उपन्यास में प्रस्तुत करता है। उपन्यास का सम्पूर्ण कथा-तत्त्व ही कथानक कहलाता है।

सुगठित कथानक के माध्यम से ही उपन्यासकार चरित्र-विश्लेषण और अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। सोद्देश्यता कथानक की विशेषता है। केवल कौतूहल और चमत्कार उत्पन्न करने वाले कथानकों या घटना-प्रधान कथानकों को वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती जो चरित्र का विश्लेषण करने वाले आदर्शोन्मुख-यथार्थवादी कथानकों को हुआ करती है।

कथानक में कार्य-कारण संबंध होने से विश्वसनीयता को बल मिलता है। घटनाओं में क्रमबद्धता और चरित्रों में क्रमिक विकास से उपन्यास का कथानक स्वाभाविकता प्राप्त करता है और पाठक इस कथानक को सत्य मानने लगता है। लेखक सत्य की संभावना बनाए रखने के उद्देश्य से यथार्थ

स्थितियों का उपन्यास में समावेश करता है। वह उसमें रोचकता लाने के लिए तथा अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपनी कल्पना का भी आश्रय लेता है, किन्तु उसकी कल्पना में भी संभाव्यता का पुट होना आवश्यक होता है। कोरी कल्पना अविश्वसनीय हो सकती है, अतः कल्पना का प्रयोग इस रूप में होना चाहिए कि कल्पना भी सत्य ही प्रतीत हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कथानक की निम्नांकित चार विशेषताएँ हैं :

(क) कथानक जन-जीवन से संबंधित हो।

(ख) कथानक में यथार्थ की स्वीकृति और आदर्श का उपयोग होना चाहिए।

(ग) कथानक को कार्य-कारण श्रृंखला से ग्रथित, क्रमयुक्त और पूर्ण होना चाहिए।

(घ) कथानक में मौलिकता, संभाव्यता और रोचकता होनी चाहिए।

कथनोपकथन : कथासाहित्य में कथा को आगे बढ़ाने का कार्य कथनोपकथन पूरा करते हैं। कथाकार कथनोपकथनों के द्वारा ही कथा-सूत्र का संग्रथन तथा पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करता है। कथनोपकथन की दो शैलियाँ मान्य हैं—(१) विश्लेषणात्मक शैली, जिसे लेखकीय कथन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है (२) नाटकीय शैली, जिसमें पात्रों की पारस्परिक वार्ता प्रस्तुत की जाती है। उपन्यास में उपन्यासकार इन दोनों ही शैलियों का उपयोग करता है।

कथनोपकथन को सरस, सरल, स्वाभाविक, संक्षिप्त और प्रसंगानुकूल होना चाहिए। संवाद की सरसता औत्सुक्य तत्त्व को पुष्ट करने में सहायक होती है। इसके अभाव में पाठक ऊब का अनुभव करने लगता है और उसका रस-तत्त्व बाधित हो जाता है। कथनोपकथन में सरलता का होना भी आवश्यक है। उलझे हुए कथनोपकथनों से कथा-सूत्र को पकड़ने में कठिनाई होती है। ऐसी स्थिति में रोचकता में कमी आ जाती है। इस स्थिति से बचने के लिए कथनोपकथन की सरलता को मान्यता दी गई है।

स्वाभाविकता कथनोपकथन की प्रमुख विशेषता है। संवाद या कथनोपकथन की एक सामान्य भाषा होती है जिसका विभिन्न श्रेणी के पात्र सहज रूप में प्रयोग करते हैं। इसी रूप में संवाद में स्वाभाविकता बनी रहती है। अतः कथनोपकथन में स्वाभाविकता का ध्यान रखना आवश्यक होता है।

स्वाभाविकता की दृष्टि से केवल भाषा का ही नहीं विषय का ध्यान भी रखना आवश्यक है। किसी अनपढ़ व्यक्ति से दर्शन व राजनीति के तत्व प्रकाशित कराना अस्वाभाविकता है। अतः इन स्थितियों से बचना चाहिए। प्रसंग के अनुकूल सरस, स्वाभाविक, संक्षिप्त कथोपकथनों का प्रयोग उपन्यास को प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक होता है।

चरित्र-चित्रण : पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का कथन ही चरित्र-चित्रण माना जाता है। पात्र दो प्रकार के होते हैं : (१) वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र (२) मौलिक चरित्र से युक्त पात्र। इन्हें क्रमशः वर्गगत चरित्र और व्यक्तिगत चरित्र की संज्ञा दी गई है। व्यक्तिगत चरित्र की महत्ता अधिक होती है।

उपन्यास समाज का ही चित्र प्रस्तुत करता है। समाज में दोनों ही प्रकार के चरित्र होते हैं, अतः उपन्यास में भी दोनों ही प्रकार के पात्रों का चरित्र-चित्रण मिलता है। प्रेमचन्द कृत 'गोदान' में राय साहब जमींदार-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः उनका चरित्र वर्गगत श्रेणी का है। 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय जी ने शेखर के मौलिक चरित्र को प्रकाशित किया है। यह चरित्र व्यक्तिगत श्रेणी का है।

चरित्र-चित्रण के लिए लेखक नाटकीय और विश्लेषणात्मक पद्धतियों का आश्रय लेता है। पात्र जब स्वयं अपना चरित्र अपने मुँह से प्रस्तुत करते हैं या दूसरे के चरित्र पर टिप्पणी करते हैं, तब नाटकीय पद्धति का प्रयोग माना जाता है। चरित्र कथन के लिए जब लेखक अपनी ओर से टिप्पणी प्रस्तुत करता है, तब विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग मान्य होता है। इन दोनों ही पद्धतियों को उपन्यास की विधा में स्वीकार किया गया है।

देश-काल-पात्र की एकता और वातावरण

उपन्यास के कथ्य को विश्वसनीय बनाने की दृष्टि से संकलनत्रय अर्थात् देश, काल, पात्र की एकता पर ध्यान देना आवश्यक होता है। जिस युग या जिस प्रदेश से सम्बन्धित कथावस्तु हो उस देश-काल के अनुरूप वातावरण की सृष्टि उपन्यासकार का कर्तव्य है। यदि कथा भारत की कही जा रही हो और वातावरण यूरोप का दिया जाए तो कथावस्तु का पाठक के हृदय पर कम प्रभाव पड़ेगा। यही स्थिति काल के संबंध में भी है। यदि द्वापर की बात कही जा रही हो और वातावरण वर्तमान युगीन प्रस्तुत किया जा रहा हो तो यह असंगत लगेगा। इसीलिए देश-काल के अनुरूप वातावरण का सृजन आवश्यक कहा गया है। पात्र भी देश-काल के अनुरूप ही अपनी क्रिया

दिखाकर अपनी स्वाभाविकता का परिचय देते हैं। पौराणिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल-पात्र की एकता न होने पर कथानक महत्वहीन हो जाता है। आंचलिक उपन्यासों में तो देश-काल-पात्र का बड़ा महत्त्व होता है। अंचल और परिवेश का सफल कथन न होने पर इन उपन्यासों की गति ही रुक जाती है।

उद्देश्य : वर्तमान युग उपयोगितावादी है। जिस वस्तु का कोई उपयोग न हो उसे आज स्वीकृति नहीं मिल सकती है। इसीलिए आज 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त निरर्थक हो गया है। आज तो समस्त कलाएँ प्रयोजन-सिद्धि में अपना योग देती दिखाई पड़ रही है। 'कला जीवन के लिए' की बात आज सर्वमान्य हो गई है। ऐसी स्थिति में आज उपन्यास भी सप्रयोजन ही लिखे जा रहे हैं। पूर्वकाल में उपन्यास मात्र मनोरंजन के लिए लिखे जाते थे। रोचक प्रसंगों और घटनाओं का उपयोग कर अय्यारी और तिलस्मी सम्बन्धी साहित्य की रचना की जा रही थी, किन्तु वर्तमान युग में उपन्यास का सोद्देश्य होना आवश्यक हो गया है।

उपन्यास चाहे ऐतिहासिक हो या सामाजिक या अन्य किसी प्रकार का, सबके पीछे उद्देश्य निहित होता है। प्रगतिवादी उपन्यासकार प्रगतिवाद के नाम पर वर्ग संघर्ष का स्वरूप उपस्थित करने का उद्देश्य लेकर अपने उपन्यास की सृष्टि करता है और अर्थव्यवस्था को प्रकाशित करने का प्रयास करता है, मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार दमित इच्छाओं और कुण्ठाओं के संबंध में अपनी धारणाओं को उपस्थित करने का उद्देश्य लेकर कथावस्तु को संगठित करता है। इसी प्रकार अन्य श्रेणी के उपन्यासकार अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किसी उद्देश्य की सिद्धि हेतु रचना करते हैं। खण्डित हितों को उद्देश्य मानकर आज अनेक उपन्यासों की रचना की जा रही है। यह ठीक नहीं है। उपन्यास-कार को चाहिए कि लोक-मंगल और लोक-कल्याण का विशद भाव लेकर यथार्थ की पृष्ठभूमि में आदर्श को प्रतिष्ठित करता हुआ रचना करे।

भाषा-शैली : रोचक शैली में सामाजिक व ऐतिहासिक तथ्यों को अभि-व्यक्त करने वाली प्रमुख साहित्यिक विधाओं के मध्य उपन्यास का विशिष्ट स्थान है। इस कार्य को सफलतापूर्वक संपादित करने के लिए उपन्यास-रचना में प्रसाद गुण का उपयोग किया जाता है। ओज और माधुर्य गुणों का प्रयोग भी अवसर के अनुसार उपन्यास के मध्य होता रहता है, किन्तु प्रसाद गुण को ही प्रमुख माना गया है। भाषा को सुबोध, व्यावहारिक और मुहावरायुक्त बनाकर उपन्यासकार अपने कथ्य को प्रस्तुत करता है। भाषा का यह स्वरूप ही अधिकांश उपन्यासकारों द्वारा गृहीत है। कुछ उपन्यास रचयिताओं ने

उपन्यास में संस्कृत-गर्भित पदावली का भी व्यवहार किया है, यथा जयशंकर प्रसाद। भाषा और वर्णन-कौशल में रोचकता तथा कौतूहल उपन्यास की मुख्य विशेषताएँ हैं। उपन्यासकार उपन्यास-रचना के लिए तीन प्रकार की शैलियों का उपयोग करता है—

(१) वर्णनात्मक शैली
(२) आत्मकथात्मक शैली या आत्मचरित शैली।
(३) पत्र और डायरी शैली

वर्णनात्मक शैली : इस शैली को स्वीकार करने पर लेखक एक तटस्थ व्यक्ति की भूमिका निभाता है। उसका कार्य वर्णन करना होता है। प्रत्येक घटना, पात्र और स्थिति का वर्णन वह इस कौशल के साथ करता है कि पाठक उसके वर्णन में सत्यता का अनुमान कर रसानुभूति करने लगते हैं; इस प्रकार वह पाठक का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर लेता है। वर्णन के बीच-बीच में पात्रों द्वारा संवाद प्रस्तुत कराकर इस शैली का लेखक अपने उपन्यास में नाटकीयता का समावेश करता है। उपन्यासकार अपनी रचना में तटस्थ रहते हुए भी प्रकृति-चित्रण, वातावरण-कथन और चरित्र-चित्रण के संदर्भ में कभी-कभी अपनी ओर से भी टिप्पणी देता है। वह प्रत्यक्षत: पाठक के सामने नहीं आता, किन्तु उसका व्यक्तित्व और उसकी भावना उसके वर्णन-कौशल में निहित रहती है। अधिकांश उपन्यास इसी शैली में लिखे गए हैं।

आत्मकथात्मक या आत्मचरित शैली : आत्मकथात्मक शैली के उपन्यासों में लेखक स्वयं उपन्यास के एक पात्र के रूप में उपस्थित रहता है। उपन्यास में वर्णित घटनाओं का संबंध उससे भी जुड़ा होता है। वह स्वयं घटनाओं का घात-प्रतिघात झेलता रहता है। इस स्थिति में उसका निजत्व भी उपन्यास में प्रकाशित होता रहता है।

पत्र और डायरी शैली : व्यक्ति अपने निजी जीवन और व्यवहार में पत्र तथा डायरी का लेखन करता रहता है। पत्र लेखक पत्र का लेखन करता है। पत्र-प्राप्तकर्ता उसका उत्तर देता है। इस प्रकार पत्रों के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान का कार्य चलता रहता है। पत्रों की रोचक शैली के कारण उनमें भी साहित्यिकता बनी रहती है। उपन्यासकार जब विभिन्न पात्रों से पत्राचार का माध्यम लेकर उपन्यास का कथ्य प्रस्तुत करता है, तब उपन्यास की शैली को 'पत्र-शैली' कहते हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने इसी शैली में 'चन्द हसीनों के खतूत' की रचना की है।

'डायरी' का लेखन अपने लिए होता है। नित्य-क्रम में घटित होने वाली घटनाओं का अंकन डायरी के पन्नों पर किया जाता है। यह डायरी स्वतः में एक साहित्य है। उपन्यासकार जब डायरी के रूप में उपन्यास के कथ्य को क्रमायोजित करता है, तब 'डायरी शैली' मानी जाती है। डॉ० देवराज कृत 'अजय की डायरी' में इस शैली का उपयोग हुआ है।

उपन्यास के भेद : उपन्यासों को विषय और कथानक के आधार पर कई श्रेणियों में विभक्त किया गया है। वर्ण्य-वस्तु के आधार पर उपन्यास चार प्रकार के माने जाते हैं : (१) ऐतिहासिक (२) राजनीतिक (३) सामाजिक (४) आंचलिक।

कथानक संरचना की दृष्टि से उपन्यास के चार भेद किए जा सकते हैं : (१) घटना प्रधान (२) चरित्र प्रधान (३) घटना-चरित्र प्रधान (४) वातावरण प्रधान।

उपर्युक्त भेदोपभेदों का संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है :

ऐतिहासिक उपन्यास : जिन उपन्यासों की कथावस्तु इतिहास से ली गई होती है और इतिहास के तथ्यों का आधार लेते हुए जिन उपन्यासों में चरित्र का उद्घाटन तथा उद्देश्य का प्रतिपादन होता है, उन्हें ऐतिहासिक उपन्यास की कोटि मे रखा जाता है। इन उपन्यासों में काल-सापेक्ष वातावरण का प्रस्तुतीकरण भी आवश्यक होता है। वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'गढ़कुंडार' 'विराटा की पद्मिनी', 'मृगनयनी' आदि ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

राजनीतिक उपन्यास : जिन उपन्यासों की कथावस्तु राजनीतिक दलों व विचारों के परिप्रेक्ष्य में संगठित होती हैं, उन्हें राजनीतिक उपन्यास कहते हैं, यथा, भगवतीचरण वर्मा कृत 'टेढ़े मेढ़े रास्ते'।

सामाजिक उपन्यास : सामाजिक उपन्यास का कथानक समाज की विभिन्न परिस्थितियों और पात्रों को लेकर ग्रथित होता है। इस प्रकार के उपन्यासों में समाज की विभिन्न समस्याओं का कथन किया जाता हैं। प्रेमचन्द कृत 'गोदान' 'गबन' आदि सामाजिक उपन्यास हैं।

सामाजिक उपन्यासों के माध्यम से मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने का भी प्रयास होता है। ऐसी स्थिति में लेखक पात्रों की दमित वासनाओं का प्रकाशन करने की ओर प्रवृत्त होता हैं। इलाचन्द्र जोशी कृत 'पर्दे की रानी' मनोविश्लेषण प्रधान सामाजिक उपन्यास का उदाहरण है।

आंचलिक उपन्यास : इस प्रकार के उपन्यासों में लेखक किसी अंचल-विशेष का वातावरण प्रस्तुत करते हुए उस अंचल की समस्याओं को उजागर

करता है तथा उनके समाधान हेतु कुछ संकेत भी देता है। यह कार्य पात्रों के संवाद तथा अन्य शैलियों से पूरा किया जाता है। फणीश्वर नाथ रेणु कृत 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' आंचलिक उपन्यास के सुन्दर उदाहरण हैं।

घटना-प्रधान उपन्यास : जब उपन्यासकार उपन्यास में चरित्र की अपेक्षा घटना को प्रधानता देता है तब उपन्यास को घटना-प्रधान उपन्यास की कोटि में स्थान मिलता है। इन उपन्यासों के द्वारा मनोरंजन अधिक होता है, किन्तु इनमें चरित्र-विश्लेषण का अभाव रहता है। इसीलिए इन्हें साहित्य में अच्छा स्थान नहीं प्राप्त हो पाता। जासूसी, तिलस्मी और अय्यारी के उपन्यास इसी प्रकार के होते हैं। देवकी नन्दन खत्री कृत 'चन्द्रकान्ता संतति' इसी प्रकार का उपन्यास है।

चरित्र-प्रधान उपन्यास : जिन उपन्यासों में चरित्र-विश्लेषण को महत्त्व देकर कथानक का संगठन किया जाता है, उन्हें चरित्र-प्रधान उपन्यास कहते हैं। पाठक के हृदय पर ऐसे उपन्यासों का अधिक प्रभाव पड़ता है। मौलिक चरित्र संपन्न पात्रों में हृदय को प्रभावित करने की अत्यधिक क्षमता होती है। ऐसे ही चरित्रों का उद्‌घाटन चरित्र-प्रधान उपन्यास की विशेषता है। जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यास इसी कोटि में स्थान प्राप्त करते हैं।

घटना-चरित्र प्रधान : सफल उपन्यासकार अपने उपन्यास में घटना और चरित्र दोनों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि उसके उपन्यास पाठकों को अधिक रुचिकर प्रतीत होते हैं। इनमें सामाजिक घटनाओं और चरित्रों का यथार्थ चित्रण होने के साथ ही आदर्श की प्रतिष्ठा मिलती है। आदर्शोन्मुख-यथार्थवादी लेखक प्रेमचन्द के उपन्यास इसी श्रेणी के हैं।

वातावरण-प्रधान : वातावरण-प्रधान उपन्यासों में परिवेश का सजीव चित्र उपस्थित करने की ओर विशेष प्रवृत्ति होती है। इस दृष्टि से भौगोलिक सीमा, उस सीमा में प्रचलित रीति-रिवाज, वहाँ की शब्द-सम्पदा तथा रहन-सहन को उपन्यासकार अपने उपन्यास में प्रस्तुत करता है। आंचलिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण की प्रमुखता मान्य है। इस प्रकार के प्रमुख उपन्यास हैं—'मैला आँचल', 'गढ़कुंडार' आदि।

(ख) कहानी : परिभाषा और परिचय

कथा-साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा कहानी है। कहानी में औत्सुक्य तत्त्व की प्रधानता होती है। मनुष्य में कौतूहल की वृत्ति जन्मजात होती है, इसलिए वह कुछ जानने की दिशा में सक्रिय रहता है। शिशु अवस्था

में ही वह अपनी इस वृत्ति के कारण कहानी सुनने में रुचि लेने लगता है। दादी-नानी से वह कहानियाँ सुनता है और उनके श्रवण से मनोरंजन प्राप्त करता है। कहानी में कुछ कहने का भाव सन्निहित है। इसीलिए कहानीकार कहानी के माध्यम से कुछ कहता है, कुछ उपदेश देता है। हितोपदेश की कहानियाँ उपदेशात्मक ही हैं। कहानी से प्राप्त उपदेश को पाठक उपदेश रूप में देख नहीं पाता, किन्तु उससे प्रभावित हो जाता है। इसीलिए कहानी को उपदेश देने का सर्वोत्तम साधन कहा गया है।

परिभाषा : कहानी क्या है ? इस संबंध में विभिन्न विचारकों ने विचार व्यक्त किए हैं। एडगर एलेन पो के अनुसार कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक बैठक में पढ़ा जा सकता है। पाठक पर विशिष्ट प्रभाव डालने के उद्देश्य से कहानी का लेखन होता है। उन्होंने कहानी को एक वर्णनात्मक गद्य कहा है तथा वे यह मानते हैं कि कहानी को पढ़ने में ३० मिनट से ६० मिनट तक का समय लगना ही उचित है।

सर ह्यू वालपोल द्वारा व्यक्त मत का रूपान्तर प्रस्तुत करते हुए बाबू गुलाबराय ने कहानी के संबंध में कहा है —

"कहानी कहानी होनी चाहिए अर्थात् उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का लेखा-जोखा होना चाहिए। वह आकस्मिकता से पूर्ण हो, उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास हो जो कौतूहल द्वारा चरमबिन्दु और संतोषजनक अन्त तक ले जाए।"

प्रसिद्ध कहानीकार प्रेमचन्द के अनुसार "कहानी ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सभी उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव जीवन का संपूर्ण बृहत् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उसमें उपन्यास की भाँति सभी रसों का सम्मिश्रण होता है, वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए है, बल्कि वह एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

श्री राय कृष्ण दास यह मानते हैं कि कहानी मनोरंजन के साथ-साथ सत्य का उद्घाटन करने वाली विधा है।

कहानी के संबंध में बाबू गुलाबराय ने स्वतंत्र विचार भी प्रस्तुत किया है। उनके मत के अनुसार—

"छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति-केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कुतूहलपूर्ण वर्णन होता है।"

उपर्युक्त सभी विचारकों के दृष्टिकोण से परिचित हो लेने के पश्चात् कहानी की परिभाषा निम्नांकित रूप में की जा सकती है—

"कहानी वह नाटकीय आख्यान है जिसमें औत्सुक्य, मनोरंजन और सत्य का उद्घाटन होता है तथा प्रभावान्विति की तीव्रता होती है।"

कहानी के तत्त्व

कहानी में संक्षिप्तता, प्रभाव की सघनता, कौतूहल की प्रधानता और उद्देश्य की एकता का गुण विद्यमान रहता है। इन गुणों से युक्त कहानियों की रचना में जिन तत्त्वों का समावेश होता है, उन्हें ही कहानी का तत्त्व कहते हैं। उपन्यास की ही भाँति कहानी के भी छः तत्त्व मान्य हैं: (१) कथानक (२) कथनोपकथन (३) चरित्र-चित्रण (४) वातावरण (५) उद्देश्य (६) भाषा-शैली।

कथानक: कहानी की कथावस्तु का संगठन कई प्रकार से होता है। कहानीकार जब ऐतिहासिक या पौराणिक कथा को अपनी कहानी का कथानक बनाता है, तब कथानक 'प्रख्यात' माना जाता है। लेखक की कल्पना से कथानक का संगठन होने पर उसे उत्पाद्य कहा जाता है। प्रख्यात कथानक को कल्पना के योग से नया रूप प्रदान करने पर मिश्रित कथानक की सृष्टि होती है। इस आधार पर कहानी का कथानक प्रख्यात, उत्पाद्य, मिश्रित आदि श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

कथानक की एक दूसरी स्थिति भी मान्य है। इस आधार पर कहानी घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और वातावरण-प्रधान होती है। जिस कहानी में घटना की आकस्मिकता को प्रधानता दी जाती है, उसे घटना-प्रधान कहानी कहते हैं। भगवतीचरण वर्मा कृत 'प्रायश्चित' और विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'रक्षाबन्धन' इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं।

चरित्र-प्रधान कहानी में किसी पात्र के चरित्र का महत्त्व अंकित होता है। ये पात्र अपने चरित्र से घटना को नया मोड़ देते दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार की कहानी के रूप में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'उसने कहा था' कहानी को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है।

वातावरण-प्रधान कहानी में वातावरण को प्रमुखता प्राप्त होती है। 'अज्ञेय' कृत 'रोज' शीर्षक कहानी इसी प्रकार की है।

कथनोपकथन : कहानी में कथनोपकथन या संवाद तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संवाद के माध्यम से ही कहानीकार अपनी कथावस्तु को आगे बढ़ाता तथा चरित्रांकन करता है। चरित्रों के अंतर्द्वन्द्व व बहिर्द्वन्द्व के उद्घाटन में संवादों की सराहनीय भूमिका होती है। पात्र और परिस्थिति के अनुकूल कथनोपकथन का समावेश कहानी मे चार चाँद लगा देता है। उपन्यास की भाँति कहानी में भी लेखक कथनोपकथन की दो शैलियों—विश्लेषणात्मक और नाटकीय—का प्रयोग करता है। लेखक अपनी ओर से घटना और पात्र के संबंध में टिप्पणी देकर विश्लेषणात्मक श्रेणी के कथनोपकथनों को उपस्थित करता है। प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी' का कथनोपकथन इसी प्रकार का है। इससे भिन्न स्थिति नाटकीय कथनोपकथनों की होती है। नाटकीय कथनोपकथनों में पात्रों के बीच वार्तालाप का क्रम नियोजित होता है। जयशंकर प्रसाद कृत 'आकाशदीप' कहानी का आरंभ कथनोपथन की इसी शैली में हुआ है।

चरित्र-चित्रण : कहानीकार कहानी के सीमित क्षेत्र में पात्र के संपूर्ण जीवन का चित्रांकन नहीं कर सकता है। इसीलिए वह उसके किसी एक मार्मिक पक्ष का ही उद्घाटन करता है। वह पात्र के अंतर्द्वन्द्व का चित्रण करता है तथा उसकी संघर्षशील परिस्थितियों को प्रकाशित करता हुआ अस्तित्व को चुनौती देने वाले सघर्ष के प्रति पात्र की जिजीविषा का अंकन करता है।

कहानी में पात्रों की संख्या सीमित रहती है, एक पात्र ही प्रमुख पात्र के रूप में उपस्थित रहता है और अन्य पात्र उसके ही चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं।

चरित्रांकन की दृष्टि से कहानी में भी पात्र दो श्रेणी के होते हैं—(१) वर्गगत (२) व्यक्तिगत। व्यक्तिगत चरित्रों को प्रकाशित करने वाली कहानियाँ पाठक के हृदय को अधिक प्रभावित करती है। इसीलिए उन्हें अधिक महत्त्व प्राप्त होता है।

वातावरण : कहानी के रचना-विधान में वातावरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वातावरण के संस्पर्श से कथानक अधिक जीवन्त और विश्वसनीय हो उठता है। वातावरण प्रस्तुत करने के लिए देश, काल और पात्र की एकता पर

दृष्टि रखने की आवश्यकता होती है। ऐतिहासिक और आंचलिक कहानियों में वातावरण का महत्त्व सर्वाधिक होता है। भावात्मक कहानियों में भी प्रकृति का कथन करने के लिए वातावरण की सृष्टि करनी होती है। उपर्युक्त वातावरण की पृष्ठभूमि में कहानी निखर जाती है।

उद्देश्य : कहानी के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—

(१) मनोरंजन।

(२) जीवन की व्याख्या।

मनोरंजन का अर्थ हल्का मनोरंजन नहीं है। कलात्मक गरिमा की अभिव्यक्ति करने वाले मनोरंजन को ही कहानी का उद्देश्य माना गया है। यह मनोरंजन की स्थिति कहानी में 'औत्सुक्य' तत्त्व को जोड़कर उपस्थित की जाती है। यदि कहानी का यह तत्त्व दुर्बल रहा तो पाठक उसे पढ़ना नहीं चाहेगा। इसलिए इस उद्देश्य की पूर्ति आवश्यक है।

कहानी द्वारा जीवन की व्याख्या की जाती है। कहानीकार अपनी कहानी में मानवीय समस्याओं का अंकन करता है। पाठक की चेतना को झकझोर कर पाठक को प्रभावित करने का उद्देश्य लेकर कहानीकार अपनी कहानी की सृष्टि करता है।

समाज के यथार्थ का जैसा अनुभव लेखक को होता है वह उसे अपने कथा साहित्य में प्रस्तुत करता है। वह मात्र यथार्थ को ही नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि उसके साथ आदर्श को भी समन्वित करता है। रोचक शैली में आदर्शोन्मुखी-यथार्थवादी दृष्टि लेकर जब कहानीकार कहानी की रचना करता है, तब उसकी कहानी लोक-कल्याण को प्रतिष्ठित कर स्वयं भी गौरव प्राप्त करती है।

भाषा शैली : कहानी की भाषा पात्र और परिस्थिति के अनुकूल होनी चाहिए। ऐतिहासिक और भावात्मक कहानियों में संस्कृत गर्भित, भावात्मक भाषा का उपयोग रुचिकर लगता है, किन्तु सामाजिक कहानियों में नित्य के व्यवहार की भाषा का अधिक प्रभाव लक्षित होता है। सामाजिक कहानियों की भाषा के बीच मुहावरों का प्रयोग कहानी की श्री-वृद्धि में [illegible] होता है। भाषा प्रयोग की इस स्थिति के कारण ही 'प्रसाद' जी की [illegible] की भाषा संस्कृत गर्भित है और प्रेमचन्द जी की कहानियों की भाषा [illegible] जन-सुलभ है।

कहानी-लेखन की चार प्रमुख शैलियाँ हैं—

१. वर्णनात्मक शैली।
२. संवादात्मक शैली।
३. आत्मकथात्मक शैली।
४. पत्र और डायरी शैली।

वर्णनात्मक शैली : उपन्यास की ही भाँति कहानी में भी जब लेखक तटस्थ व्यक्ति के रूप में कहानी की घटनाओं का वर्णन करता है और घटनाओं के घात-प्रतिघात में जूझते हुए चरित्र का अंकन करता है, तब वर्णनात्मक शैली का प्रयोग माना जाता है। प्रेमचन्द कृत 'बूढ़ी काकी' इसी शैली में लिखित है।

आत्मकथात्मक शैली : जब कहानीकार स्वयं कहानी का एक पात्र बन जाता है और 'मैं' की शैली में कहानी का कथन करने लगता है तब आत्म-कथात्मक शैली का प्रयोग मान्य होता है। जैनेन्द्र कृत 'अपना-अपना भाग्य' और अज्ञेय कृत 'रोज' शीर्षक कहानियाँ आत्मकथात्मक शैली में ही लिखी गई हैं।

संवादात्मक शैली : इस शैली की कहानियों में संवाद तत्त्व की प्रधानता होती है और पात्रों के वार्तालाप के माध्यम से कहानी का कथानक आगे बढ़ाया जाता है। इस शैली की कहानियों में लेखकीय-कथन भी बीच-बीच में प्रयुक्त होता है, किन्तु प्रमुखता पात्रों के संवादों की ही रहती है। विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'ताई' शीर्षक कहानी का लेखन इसी शैली में हुआ है।

पत्र और डायरी शैली : पत्र शैली में पात्रों के बीच पत्राचार द्वारा कथा-नक और चरित्र का विश्लेषण किया जाता है। इसी प्रकार डायरी शैली में डायरी के पन्ने लिखे जाते हैं और इनके माध्यम से ही कहानी कह दी जाती है। विनोद शंकर कृत 'अपराध' शीर्षक कहानी में पत्र-शैली का अच्छा प्रयोग है।

कहानी के भेद

कथानक की प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित स्थिति को देखते हुए कहानी को प्रख्यात कथानक, उत्पाद्य कथानक और मिश्रित कथानक पूर्ण कहानियों के रूप में वर्गीकृत किया गया है। इसी प्रकार घटना, चरित्र और वातावरण के आधार पर कहानी को तीन वर्गों में बाँटा गया है : (१) घटना-प्रधान कहानी (२) चरित्र-प्रधान कहानी (३) वातावरण-प्रधान कहानी। ये सभी भेद कथानक-मूलक हैं। कथानक के संदर्भ में इनका परिचय दिया जा चुका है।

विषय-कथन की दृष्टि से कहानी के विभिन्न भेद किए जा सकते हैं—

१. **ऐतिहासिक कहानी** : इन कहानियों का कथानक इतिहास की घटना पर आधारित होता है। ऐतिहासिक कहानियों में इतिहास सापेक्ष पात्र और वातावरण का प्रयोग आवश्यक होता है।

२. **सामाजिक कहानी** : सामाजिक समस्याओं—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक या अन्य किसी प्रकार की समस्या को विषय-वस्तु के रूप में चुनकर सामाजिक कहानियों का लेखन किया जाता है। इन कहानियों में व्यक्ति, परिवार और समाज को आधार बनाया जाता है।

३. **मनोवैज्ञानिक कहानी** : इन कहानियों में पात्र के चरित्र की आंतरिक स्थिति का उद्घाटन होता है। पात्र की दमित इच्छाओं, उसके अंतर्द्वन्द्व तथा उसकी काम-भावना का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक कहानी के मूल में विद्यमान रहती है।

ग्राम-[illegible]न, कस्बों की जिन्दगी और महानगरों की जिन्दगी में भेद मा[illegible]ज का कहानीकार ग्रामीण कहानी के साथ ही कस्बों और महानगरीय संवेदनाओं की कहानी भी लिख रहा है।

१२

निबंध और आलोचना

(क) निबंध : परिभाषा और परिचय

निबंध गद्य की वह विधा है जिसमें एक निश्चित विस्तार के बीच वर्ण्य-वस्तु का विचारपूर्ण एवं रोचक पद्धति से प्रतिपादन होता है और प्रतिपादित विचार आपस में इस प्रकार सुसंबद्ध होते हैं कि पाठक लेखक के तर्कपूर्ण भावों से सहमत हो उठता है।

निबंध के पर्याय के रूप में प्रबंध, लेख संदर्भ, रचना और प्रस्ताव शब्द भी प्रचलित हैं। प्रबंध का प्रयोग आज उस गद्य रचना के लिए होता है, जिसमें लेखक किसी विषय का सांगोपांग विस्तार के साथ अपनी भाषा-शैली में विवेचन करता है। इसे अंग्रेजी के 'थीसिस' का समानार्थी कहा जा सकता है। लेख, मूल अर्थ में समस्त लिखी सामग्री के लिए आता है, किन्तु यह वास्तव में उस गद्य रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिसमें लेखक मुख्यतः निर्वैयक्तिक रूप से किसी विषय पर शास्त्रीय ढंग से प्रकाश डालता है। इसे अंग्रेजी का 'आर्टिकल' कह सकते हैं। संदर्भ का अर्थ—प्रसंग सम्बन्ध-निर्वाह, एक साथ बाँधना या बुनना है। यह लेख से कम व्यापक है। रचना का मूल अर्थ कृति के लिए होता है। निबंध के अर्थ में यह किसी विषय या वस्तु पर उसके स्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदि की दृष्टि से लेखक की गद्यात्मक अभिव्यक्ति है। अंग्रेजी का 'कम्पोजीशन' इसके समान अर्थ रखता है।

फ्रांसीसी लेखक मांतेन ने 'एसे' नाम की विधा को जन्म दिया। 'एसे' शब्द फ्रांसीसी भाषा के 'एसाइ' से विकसित हुआ है। इसका अर्थ 'प्रयास'

प्रयोग या परीक्षण है। वस्तुतः 'एसे' उस प्रकार की अनवस्थित गद्य रचना के लिए प्रयुक्त होता है "जिसमें निबंधकार आत्मीयता या अनात्मीयता, वैयक्तिकता या निर्वैयक्तिकता के साथ किसी एक विषय या उसके किन्हीं अंशों या प्रसंगों पर अपनी निजी भाषा-शैली में भाव या विचार प्रकट करता है।" निबंध के दो प्रमुख आधार तत्त्व हैं—विषय प्रतिपादन एवं व्यक्तित्व की व्यंजना। पाश्चात्य निबंधों में व्यक्तित्व की व्यंजना पर अधिक बल दिया गया जिसमें निबंधकार की अपनी धाराणाएँ, मानसिक प्रतिक्रियाएँ विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है। हिन्दी साहित्य में निबंध का लेखन भी इसी 'एसे' के अनुकरण के रूप में प्रारंभ हुआ, किन्तु कालान्तर में हिन्दी निबन्ध का स्वतंत्र रूप से विकास हुआ और विषय-प्रतिपादन को अधिक प्रमुखता मिली।

'निबंध' का व्युत्पत्तिमूलक' अर्थ है—निःशेष भाव से बंध उपस्थित करना। निबंध शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में भी मिलता है। संस्कृत साहित्य में व्यवहृत होने वाले निबंध शब्द पर विचार करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'निबंध' नाम का एक अलग साहित्यांग है। इन निबंधों में धर्म-शास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना है। विवेचना का ढंग यह है कि पहले पूर्वपक्ष में ऐसे बहुत से प्रमाण उपस्थित किए जाते हैं जो लेखक के अभीष्ट सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ते हैं। इस पूर्वपक्ष वाली शंकाओं का एक-एक करके उत्तरपक्ष में जवाब दिया जाता है। सभी शंकाओ का समाधान हो जाने के बाद उत्तरपक्ष के सिद्धान्त की पुष्टि में कुछ और प्रमाण उपस्थित किए जाते हैं। चूंकि इन ग्रन्थों में प्रमाणों का निबंधन होता है, इसलिए इन्हें निबंध कहते हैं।" संस्कृत साहित्य में जिस रूप में निबंध शब्द का व्यवहार हुआ है, उससे स्पष्ट है कि निबंध में बौद्धिक निस्संगता की प्रधानता होती है और सप्रमाण विचार का पोषण होता है।

आचार्य शुक्ल निबंध में विषय प्रतिपादन को ही प्रमुखता देते हैं और उसे भाषा की दृष्टि से भी गद्य की उत्कृष्ट रचना मानते है। उनका कहना है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।"

निबंध में विचार की कसावट का प्रमुख स्थान होता है। निबंधकार एक ओर छोटी-से-छोटी वस्तु पर अच्छे निबंध लिख सकता है और दूसरी ओर गंभीर से गंभीर विषय पर अपने विचार अंकित कर सकता है।

निबंध-लेखन में लेखक की शैली का विशेष महत्त्व होता है। विभिन्न विषयों पर विभिन्न प्रकार की शैली में निबंध लिखे जाते हैं। निबंधकार अपनी भावधारा पर संयम रखने की भावना से निबंध के विषय को निम्नांकित तीन उपशीर्षकों में बाँटता है—

(१) प्रस्तावना (२) विस्तार (३) निर्णय या उपसंहार।

प्रस्तावना : निबंध का पूर्ण भाग ही प्रस्तावना कहलाता है। प्रतिपाद्य का परिचय प्रस्तावना के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जाता है। सुन्दर प्रस्तावना पाठक को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इस प्रस्तावना के प्रभाव से पाठक का मन प्रतिपाद्य विषय-वस्तु को समझने के लिए उद्यत हो जाता है।

विस्तार या विवेचन : निबंध का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग इस उपशीर्षक से ही संबंधित होता है। विस्तार खंड में ही लेखक प्रतिपाद्‌य विषय पर विभिन्न दृष्टि से विचार करता है। विषय-विश्लेषण का कार्य विस्तार-खंड में ही संपादित होता है। विस्तार की परिधि में ही लेखक सप्रमाण अपने तर्कों को उपस्थित करता है, और पाठक के मन मे उठने वाली संभावित शंकाओं के निराकरण का प्रयास करता है। उसके इस कौशल के कारण उसे पाठकीय सहमति प्राप्त होती है अर्थात् उसके निबंध में व्यक्त विचारों से पाठक सहमत होता दिखाई पड़ने लगता है।

निर्णय या उपसंहार : निबंध का अंतिम भाग उपसंहार कहलाता है। इस भाग में लेखक अपने निर्णय को प्रकाशित करता है। उपसंहार का प्रभावशाली होना निबंध का गुण कहा गया है। प्रभावशाली उपसंहार पाठक के मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। पाठक की शंकाओं का समाधान उपसंहार की प्रमुख विशेषता है।

निबंध के भेद : निबंध का क्षेत्र असीमित है। किसी भी विषय पर निबंध लिखा जा सकता है। विषय की दृष्टि से निबंध को वर्गीकृत किया जाए तो कई प्रकार के वर्ग होंगे जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक, वैज्ञानिक आदि। वर्गीकरण का यह आधार ठीक नहीं है। निबंध में विषय की अपेक्षा लेखन-शैली का महत्त्व अधिक होता है। लेखक के दृष्टिकोण और वर्णन शैली के आधार पर निबंध मुख्यतः चार प्रकार के माने गए हैं—

(१) कथात्मक निबंध।
(२) वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबंध।

(३) विचारात्मक निबंध ।
(४) भावात्मक निबंध ।

कथात्मक निबंध : कथात्मक निबंधों में काल्पनिक वृत्त, आत्मचरितात्मक प्रसंग, पौराणिक आख्यान आदि को आधार बनाकर लेखक अपना कथ्य प्रस्तुत करता है, जैसे दिनकर का निबंध 'कबीर साहब से भेंट'। ऐसे निबंधों में भी लेखक अपने विचार और सिद्धान्त का प्रतिपादन रोचक ढंग से करता हुआ पाठकों के सम्मुख एक निष्कर्ष प्रस्तुत करने में सफल होता है।

वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबंध : किसी वस्तु या दृश्य को देखकर उसका यथातथ्य वर्णन करना ही वर्णनात्मक निबंध कहलाता है। इस प्रकार के निबंध में तथ्यात्मक अंश अधिक होता है और कल्पना का प्रयोग कम होता है। प्राकृतिक और कृत्रिम दोनों ही प्रकार के पदार्थों से संबंधित वर्णनात्मक निबंध लिखे जा सकते हैं। वर्णनात्मक निबंध लिखते समय लेखक प्रस्तावना खंड में वर्ण्य-वस्तु के स्थूल रूप का कथन करता है। विस्तार खंड में वह उस विषय के संबंध में अपनी भावनाओं तथा आवश्यकतानुसार अन्य लेखकों की भावनाओं को प्रस्तुत करता है और अन्त में अपनी ओर से वर्णन समाप्त कर पाठक को वर्ण्य-वस्तु के संबंध में सोचने का अवसर प्रदान कर देता है।

वर्णनात्मक निबंध में वर्णन के मध्य लेखक की भावना भी अभिव्यंजित होती चलती है, यथा—

"मेरी दाहिनी ओर गंगा मैया लापरवाही से बह रही थी। कुछ महीने पहले इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आस-पास के गाँवों के धनी-दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। अब ये विश्रान्त भाव से बह रही थी।" —हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार-वितर्क

विवरणात्मक निबंध वर्णनात्मक निबंध से केवल इस दृष्टि से कुछ भिन्न प्रतीत होता है कि वर्णनात्मक निबंधों का संबंध जहाँ स्थूल पदार्थ से अधिक होता है, वहाँ विवरणात्मक निबंधों का संबंध कालक्रम से होता है। इसीलिए इसमें वस्तु को गतिशील रूप में देखने का अवसर रहता है। इस प्रकार के निबंधों का लेखन करते समय लेखक क्रमानुसार घटना या दृश्य का चयन करता है। प्रत्येक घटना का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करता हुआ लेखक यथा-अवसर सांकेतिक आलोचना भी करता चलता है। यात्रा और शिकार सम्बन्धी निबंध विवरणात्मक पद्धति पर ही लिखे जाते हैं, यथा—

"लखनऊ से रात को साढ़े दस बजे गाड़ी छूटती थी। कुछ पहले ही स्टेशन पहुँच गया। इरादा था कि कुछ अच्छी-सी जगह पा सकूँ। मित्र ने

इंटर-क्लास में बैठने का आग्रह कर दिया था। यह दरजा कुलीन गरीबों का दरजा है। हम जैसे अनेक दूसरे जन भी दरजा बढ़ाने की धुन में रहते हैं। इसलिए भीड़ की आशंका थी।" —सियाराम शरण गुप्त : झूठ-सच

विचारात्मक निबंध : विचारात्मक निबन्धों में विचार तत्त्व की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के निबंधों का सम्बन्ध बौद्धिक विवेचन से अधिक रहता है। विचारात्मक निबंध के विषय को अपनी चिन्तन-धारा में लाकर लेखक तर्कपूर्ण पद्धति पर अपना विचार निरूपित करता है, यथा—

"श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इसमें अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुए हम अपने को उस समाज में समझते है जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि रूप में उसके अंतर्गत न भी हों – जानबूझ कर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं, बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ जाता है।" —रामचंद्र शुक्ल : श्रद्धा-भक्ति

भावात्मक निबंध : भावात्मक निबंधों का संबंध हृदय से अधिक होता है। उसमें रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होती है। इस प्रकार के निबंधों का लेखन करते समय लेखक कल्पना का अधिक प्रयोग करता है। भावात्मक निबंधों का लेखक विचारक की अपेक्षा कवि अधिक होता है और उसके निबंधों में काव्यात्मकता अधिक दिखाई पड़ती है।

भावात्मक निबंध को 'ललित निबंध' भी कहते हैं। हृदय में उमड़ते हुए रस के वेग को गद्य में निबन्धित करने की कला भावात्मक निबंध या ललित निबंध कहलाती है। इस प्रकार के निबंध का एक अंश निम्नांकित है —

"किसानों और मजदूरों की टूटी-फूटी झोपड़ियों में ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहनी छवि निरखो—दीन-दुर्बलों की निराशा भरी आँखों में उस प्यारे को देखो। किसी धूल भरे हीरे की कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ, पतित पद दलित अछूत की छाया मे उस लीला-बिहारी को देखो।" —वियोगी हरि : दीन बंधु

निबंध की विवध शैलियाँ

निबंध पर विचार करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इस विधा में वर्ण्य-विषय से अधिक शैली का महत्त्व होता है। निबंध-लेखन में निम्नांकित शैलियों का प्रयोग किया जाता है—

१. समास शैली।

२. व्यास शैली।

३. तरंग या विक्षेप शैली।
४. धारा शैली।

समास शैली : इसके अंतर्गत संक्षिप्तीकरण का सिद्धांत मान्य होता है। निबंधकार विभिन्न अनुच्छेदों में जिन भावों का कथन करता है, उनका सारांश अंत में प्रस्तुत कर देता है। इस क्रिया को समास शैली का एक प्रधान अंग माना जाता है। विचार को विस्तार न देकर जब उसे संक्षेप में व्यक्त करने की ओर लेखक प्रवृत्त होता है, तब 'समास शैली' का दर्शन होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में इस शैली का खुलकर प्रयोग हुआ है। विचारात्मक निबंधों के लेखन में यह शैली सहायक होती है।

व्यास शैली : व्यास शैली में विस्तार की प्रवृत्ति मिलती है। इसका प्रयोग विचारात्मक, वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबंधों के लेखन में किया जाता है। जिस प्रकार व्यास-पीठ पर बैठा हुआ कथावाचक कथा-प्रसंग को विस्तार देकर श्रोता के लिए बोधगम्य बनाता है, उसी प्रकार लेखक व्यास शैली के प्रयोग से अपने वर्ण्य-विषय को विस्तार के साथ प्रस्तुत कर उसे पाठक के अनुकूल बनाता है।

तरंग या विक्षेप शैली : इस शैली के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निम्नांकित विचार व्यक्त किए हैं—

"यह भावाकुलता की उखड़ी-पुखड़ी शैली है। इसमें भावना लगातार एक ही भूमि पर सम गति से नहीं चलती रहती, कभी इस वस्तु को कभी उस वस्तु को पकड़कर उठा करती है। इस उठान को व्यक्त करने के लिए भाषा का चढ़ाव-उतार अपेक्षित होता है। हृदय कहीं वेग से उमड़ उठता है, कहीं वेग को न सम्हाल सकने के कारण शिथिल पड़ जाता है, कहीं एकबारगी स्तब्ध हो जाता है। ये सब बातें भाषा में झलकनी चाहिए।"

तरंग शैली का प्रयोग डा० रघुवीर सिंह की 'शेष स्मृतियां' शीर्षक पुस्तक में सर्वत्र देखने को मिलता है। जिस प्रकार समुद्र की धारा के बीच तरंगें उठती और गिरती रहती हैं, उसी प्रकार विचार-धारा के बीच भाव-तरंगों का उठना और शमित होना तरंग शैली की विशेषता है। भावात्मक निबंधों के लेखन में यह शैली सहायक होती है।

धारा शैली : यह भावाकुलता की प्रधान शैली है। इसमें भावना जिस रूप में उमड़ती है, पूरे निबंध में उसी रूप में वह छायी रहती है। इस शैली में जिस भावावेश में निबंध आरंभ होता है, उसमें कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाता। इसीलिए इस शैली में भावना लगातार एक ही भूमि पर समगति

से चलती रहती है। जिस प्रकार कोई जल-धारा एक गति से निरन्तर बहती रहती है, उसी प्रकार धारा-शैली में भाव-धारा एक रूप से ही चलती दिखाई पड़ती है। वियोगी हरि द्वारा लिखित भावात्मक निबंधों में धारा-शैली का सुन्दर निर्वाह मिलता है।

(ख) आलोचना : परिभाषा और परिचय

आलोचना, समीक्षा, समालोचना, आदि पर्यायवाची शब्द हैं। इन सबके द्वारा एक ही अर्थ का बोध होता है। अंग्रेज़ी का 'क्रिटिसिज्म' शब्द आलोचना का समानार्थी है। आलोचना शब्द 'लुच्' धातु से बना है। इसका अर्थ देखना है। इसलिए आलोचना या समालोचना का अर्थ 'भली प्रकार देखना' माना गया है। समीक्षा का भी यही अर्थ है। आलोच्य को भली प्रकार से देखना ही आलोचना है। आलोचक का कार्य आलोच्य को भली प्रकार से देखकर उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करना है। आलोच्य कृति के सम्बन्ध में निष्पक्ष भाव से निर्णय देने वाले व्यक्ति को आलोचक या समीक्षक कहते हैं।

साहित्य जीवन की व्याख्या करता है और आलोचना से साहित्य की व्याख्या होती है। आलोचक साहित्यिक रचना को स्वयं समझकर उसका बोध पाठकों को कराता है। इसीलिए उसे अध्यापक या दुभाषिए की संज्ञा दी जाती है। एक अध्यापक की भाँति वह विषय का मर्म स्पष्ट करता है और एक दुभाषिए की भाँति वह कृतिकार की भावना को पाठकों के समक्ष उपस्थित करता है। यह कार्य वह आलोचना द्वारा ही करता है।। इसीलिए यह कहा जाता है कि आलोचना से आलोच्य कृति को समझने में सहायता मिलती है।

पूर्वकाल में आलोचक टीका और व्याख्या लिखकर अपने कर्तव्य की इति-श्री समझ लेता था, किन्तु आज समीक्षक का कर्तव्य बढ़ गया है। वर्तमान समय में ऐतिहासिक, सामाजिक प्रभावों के बीच कृति और कृतिकार को रख कर उसके संबंध में विचार करना अभीष्ट हो गया है। आज आलोचना के द्वारा मुख्यतः दो प्रकार के कार्य हो रहे हैं—

(१) साहित्य की कसौटी के रूप में सिद्धान्त-कथन।
(२) साहित्य के गुण-दोषों का परीक्षण।

आलोचना के प्रकार : कृति और कृतिकार की समीक्षा से सम्बन्धित विभिन्न पद्धतियों को स्वीकार कर समीक्षक आलोच्य की समीक्षा करता है। इस आधार पर समीक्षा या आलोचना के विभिन्न रूप प्रचलित हैं। इनका

संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है—

(१) सैद्धान्तिक समीक्षा।
(२) निर्णयात्मक समीक्षा।
(३) प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा।
(४) व्याख्यात्मक समीक्षा।

व्याख्यात्मक समीक्षा के तीन स्वरूप मान्य हैं—

(अ) ऐतिहासिक समीक्षा
(ब) तुलनात्मक समीक्षा
(स) वादोन्मुखी समीक्षा—(क) प्रगतिवादी समीक्षा।
(ख) मनोविश्लेषणवादी समीक्षा।

सैद्धान्तिक समीक्षा : सैद्धान्तिक समीक्षा में साहित्य के सिद्धान्तों का विवेचन होता है। काव्यांगों—रस, छन्द, अलंकार आदि—का विवेचन सैद्धान्तिक आलोचना का विषय है।

निर्णयात्मक समीक्षा : सैद्धान्तिक समीक्षा द्वारा जिन शास्त्रीय सिद्धांतों की प्रतिष्ठा होती है, उनके आधार पर आलोच्य के गुण-दोष का विवेचन 'निर्णयात्मक आलोचना' का विषय माना गया है। निश्चित नियमों और सिद्धान्तों की कसौटी पर कृति का परीक्षण होने से निर्णयात्मक समीक्षा में निश्चयात्मकता का गुण दिखाई पड़ता है, किन्तु ऐसी आलोचना में प्रगतिशीलता का सर्वथा अभाव रहता है।

प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा : इस प्रकार की आलोचना में शास्त्रीय सिद्धान्तों का आधार नहीं लिया जाता है। इसमें आलोचक की रुचि को महत्ता प्राप्त होती है। कृति का जैसा प्रभाव आलोचक के मन पर पड़ता है, उसे वह उसी रूप में अंकित कर देता है। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा में समीक्षा की अपेक्षा समीक्षक के व्यक्तित्व का उद्घाटन अधिक होता है। इसीलिए प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा को निन्द्य माना जाता है। इस प्रकार की समीक्षा की ओर अब प्रवृत्ति नहीं रह गयी है।

व्याख्यात्मक समीक्षा : इसमें आलोच्य को उसकी परिस्थिति के बीच रखकर देखा जाता है और समाज के लिए उसकी उपादेयता पर विचार किया जाता है। इस प्रकार की समीक्षा प्रस्तुत करने वाला समीक्षक एक वैज्ञानिक की तरह कृति व कृतिकार का विश्लेषण करता है। इसीलिए इसमें वैज्ञानिकता अधिक पाई जाती है। इसके प्रमुख तीन रूप हैं—

(अ) ऐतिहासिक समीक्षा।

(ब) तुलनात्मक समीक्षा ।
(स) वादोन्मुखी समीक्षा ।

ऐतिहासिक समीक्षा : फ्रांसीसी आलोचक टेन ने सर्वप्रथम ऐतिहासिक समीक्षा का नेतृत्व किया । ऐतिहासिक समीक्षा का कर्ता कृति या कृतिकार को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर देखता है । आलोचक आलोच्य कृति को जब उस राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिवेश में रखकर देखता है, जिसमें वह कृति प्रस्तुत की गई थी, तब ऐतिहासिक समीक्षा मानी जाती है ।

तुलनात्मक समीक्षा : इस प्रकार की समीक्षा में तुलना की स्थिति मान्य होती है । आलोच्य की तुलना किसी अन्य से करते हुए उसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालना तुलनात्मक समीक्षा का विषय है । तुलनात्मक समीक्षा में देश-काल का बन्धन टूट जाता है । एक देश के साहित्यकार की तुलना दूसरे देश के साहित्यकार से और एक युग के साहित्यकार की तुलना दूसरे युग के साहित्यकार से की जा सकती है । कालिदास के संबंध में समीक्षा करते समय उनकी तुलना शेक्सपीयर से करना देश की सीमा को अस्वीकृत करने पर ही संभव होता है । इसी प्रकार मीरा के साथ महादेवी की तुलना का कार्य युग की सीमा को छोड़ने पर ही संपन्न होता है । तुलनात्मक समीक्षा में आलोचक समानताओं असमानताओं दोनों को ही प्रस्तुत करता हुआ अपना निर्णय प्रकाशित करता है ।

(३) **वादोन्मुखी समीक्षा** : इस प्रकार की समीक्षा के दो रूप हैं—

(क) प्रगतिवादी समीक्षा ।
(ख) मनोविश्लेषणवादी समीक्षा ।

(क) प्रगतिवादी समीक्षा : इस समीक्षा को 'समाज-शास्त्रीय समीक्षा' भी कहते हैं । प्रगतिवादी आलोचक यह मानता है कि श्रेष्ठ साहित्य युग-जीवन के तत्त्वों से प्रथित होता है और उसमें युग-जीवन की दिशा को निर्दिष्ट करने की क्षमता होती है । कृति और कृतिकार ने जनता और उसकी मनोवृत्ति को परिवर्तित करने या यूँ कहिए कि प्रगतिशील बनाने में कितना योगदान दिया है, इस दृष्टि से ही प्रगतिवादी आलोचक आलोच्य का मूल्यांकन करता है । प्रगतिवादी समीक्षा में स्थूल सामाजिक रूप पर ही अधिक दृष्टि रहती है । जीवन के सूक्ष्म स्पन्दनों को न देखना इसका दोष माना जाता है ।

(ख) मनोविश्लेषणवादी समीक्षा : रचयिता के वैयक्तिक मनोविज्ञान पर विचार करते हुए मनोवैज्ञानिकों ने अंतश्चेतना को साहित्य का आधार

माना है। इसी आधार को स्वीकृति देता हुआ मनोविश्लेषणवादी आलोचक रचयिता की मन:स्थिति का विश्लेषण करता है और इसी विश्लेषण प्रक्रिया से वह रचना की व्याख्या करता है। मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति में कृतिकार की मानसिक आवश्यकताओं का अध्ययन कर यह देखा जाता है कि कृति इन आवश्यकताओं की पूर्ति में किस हद तक सफल रही है।

पाश्चात्य-समालोचना पद्धति, आलोचना को भिन्न प्रकार से वर्गीकृत करती है। इसके आधार पर आलोचना के निम्नांकित चार रूप हैं —

१. रूपवादी आलोचना।
२. विधागत आलोचना।
३. ऐतिहासिक आलोचना।
४. अन्त:विषयी आलोचना।

रूपवादी आलोचक कृति के कथ्य और रूप का विश्लेषण करता है। उसकी आलोचना में कृतिकार की परिस्थिति, मानसिकता आदि पर विचार नहीं होता है।

विधागत आलोचना में विधाओं की दृष्टि से विश्लेषण को महत्त्व दिया जाता है।

ऐतिहासिक आलोचना में युग की परिस्थितियों के मध्य आलोच्य को रखकर उसका परीक्षण होता है।

अंत:विषयी आलोचना में विविध दृष्टिकोण से आलोच्य को परखने का प्रयास होता है।

१३

गद्य के अन्य रूप

वर्तमान काल को साहित्य की दृष्टि से गद्य-काल की संज्ञा प्राप्त है। इसका कारण इस युग में विविध गद्य-रूपों का प्रचुर विकास है। नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य गद्य विधाओं का परिचय निम्नलिखित है—

१. रेखाचित्र	२. संस्मरण
३. जीवनी	४. आत्मकथा
५. रिपोर्ताज	६. डायरी
७. पत्र	८. यात्रा वृत्तान्त

रेखाचित्र : रेखाचित्र अंग्रेजी के 'स्केच' शब्द का समानार्थी है। इसका स्थान चित्रकला में मान्य था। वहीं से इस शब्द को लेकर इसे काव्य-कला अर्थात् साहित्य के अंतर्गत प्रतिष्ठित किया गया है। चित्रकार रेखाचित्रों में केवल टेढ़ी-आड़ी-तिरछी रेखाओं का उपयोग करता है। वह इन्हीं रेखाओं से चित्रांकन करता है। इन चित्रों में वह रंग नहीं भरता। अपने रंग-विहीन रूप में भी ये रेखाचित्र बड़े ही मोहक और व्यंजक होते हैं। इसी के अनुकरण पर जब साहित्यकार शब्द-रेखाओं द्वारा किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्र पाठकीय-चेतना के समक्ष प्रस्तुत करता है, तब उसके इस शब्द-चित्र को साहित्यिक दृष्टि से 'रेखाचित्र' की संज्ञा प्राप्त होती है।

रेखाचित्र की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(१) लेखकीय प्रतिभा और सूक्ष्म निरीक्षण का उपयोग होता है।

(२) गति की व्यंजना स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म रूप में भी होती है।

(३) शब्द-रेखाओं से चित्र-रचना की जाती है। पाठक को अपनी कल्पना के अनुसार इस शब्द-रेखा में रंग भरने का अवसर प्राप्त रहता है।

(४) यथार्थ को सजीवता प्राप्त रहती है और लेखकीय कल्पना से यथार्थ को आकर्षक बनाया जाता है।

रेखाचित्र वर्णन-प्रधान संस्मरण है किन्तु इनकी चित्रात्मकता इन्हें संस्मरण से पृथक कर देती है। रेखाचित्र में भी कहानी की ही भाँति चरित्र का उद्घाटन होता है, किन्तु कहानी के पात्र कल्पित होते हैं और रेखाचित्र के वास्तविक। हिन्दी के रेखाचित्रकारों में महादेवी वर्मा और रामवृक्ष बेनीपुरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'मेरा परिवार' कृतियों में महादेवी वर्मा ने तथा 'माटी की मूरतें' में रामवृक्ष बेनीपुरी ने सुन्दर रेखाचित्र लिखे हैं।

संस्मरण : संस्मरण में स्मरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रेखाचित्र में भी स्मृति अपना विलास दिखाती है। इसीलिए संस्मरणों और रेखाचित्रों में कथ्य की दृष्टि से अत्यधिक समानता दिखायी पड़ती है।

संस्मरण में लेखक के निजत्व को प्रमुखता प्राप्त होती है। वर्ण्य-वस्तु से किसी न किसी रूप में लेखक अतीत काल में प्रभावित रहता है। इस प्रभाव को लेखक भूल नहीं पाता और 'संस्मरण' की विधा में इसका कथन कर पाठक को भी प्रभावित करता है। संस्मरण साहित्य की दृष्टि से बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, श्रीमती महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, डा० नगेन्द्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीश चन्द्र माथुर आदि उल्लेखनीय साहित्यकार हैं।

जीवनी और आत्मकथा : 'जीवनी' या 'जीवन-चरित्र' में लेखक अपने चरित्र-नायक के जीवन की गाथा प्रस्तुत करता है। जीवनी-लेखक चरित्र-नायक के जिन गुणों से या उसके जीवन की जिन घटनाओं से प्रभावित होता है, उनका साहित्यिक ढंग पर कथन करने के लिए 'जीवनी' विधा को अपनाता है। साहित्यिकता के ही आधार पर जीवनी इतिहास से भिन्न दीख पड़ती है। इतिहास और जीवनी दोनों में ही सत्य का वर्णन होता है, किन्तु जीवनी में मानवीय संवेदना और साहित्यिकता पर बल रहता है।

जीवनी-लेखक निष्पक्ष भाव से अपने चरित्र-नायक के गुणों को प्रकाशित ...ा है और यथा आवश्यक उसकी दुर्बलता को भी प्रस्तुत करता है। इनके

कथन में वह अतिरंजना नहीं करता। अतः सुरूचिपूर्ण शैली में चरित्र-नायक के व्यक्तित्व को प्रकाशित करना 'जीवनी' विधा की प्रमुख विशेषता है।

जानसन ने जीवनीकार का लक्ष्य सूचित करते हुए कहा है —

"जीवनीकार का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रियाओं का मनोरंजक वर्णन करना होता है जो व्यक्ति-विशेष की बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी से छोटी घरेलू बातों तक संबंधित होती है।"

जीवनी का ही एक रूप 'आत्मकथा' है। 'आत्मकथा' में अपनी जीवनगाथा का कथन होता है। जब लेखक अपने जीवन की बात न कहकर किसी अन्य को चरित्र-नायक बनाता है और उसकी बातों से पाठक को परिचित कराता है तब उसके इस प्रयास को 'जीवनी' या 'जीवन-चरित्र' की सज्ञा मिलती है, किन्तु जब वह अपने जीवन का परिचय स्वयं प्रस्तुत करता है तब आत्मकथा मानी जाती है।

हिन्दी साहित्य में जीवनी और आत्मकथा दोनों का ही लेखन हुआ है। राहुल सांकृत्यायन, इंद्र विद्या वाचस्पति, बनारसीदास चतुर्वेदी, हरिभाउ उपाध्याय, रामविलास शर्मा आदि के द्वारा लिखित जीवन-चरित्रों का साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा गांधी और डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथाओं को आत्मकथा-साहित्य के बीच अत्यधिक गौरव प्राप्त है।

रिपोर्ताज : 'रिपोर्ताज' नामक साहित्यिक विधा का जन्म युद्ध-काल से माना जाता है। युद्ध-भूमि में साहित्यकार की प्रतिभा से युक्त व्यक्ति ने बैठकर युद्ध-दशा का भावुकता समन्वित वर्णन किया। उसने वहाँ की एक 'रिपोर्ट' तैयार की। इस 'रिपोर्ट' लिखने को 'रिपोर्टिंग' कहते हैं। अंग्रेजी के शब्द 'रिपोर्ट' का अर्थ सूचना या विवरण होता है। 'रिपोर्टिंग' का अर्थ विवरण तैयार करना कहा जा सकता है। 'रिपोर्ट' से 'रिपोर्ताज' का प्रमुख अन्तर यह है कि रिपोर्ट में केवल सूचना होती है, किन्तु रिपोर्ताज में सूचना और विवरण के साथ रिपोर्ताज-लेखक की भावुकता और कल्पना का भी समावेश होता है। इसी आधार पर 'रिपोर्ताज' को साहित्य की विधा के रूप में स्वीकार किया गया है। लेखकीय भावुकता और कल्पना के समावेश के कारण 'रिपोर्ताज' में रसमयता रहती है, जो साहित्य का मूल तत्त्व है।

रिपोर्ताज लिखने वाले साहित्यकारों में प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेयराघव, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, कुबेरनाथ राय, निर्मल वर्मा, धर्मवीर भारती एवं कमलेश्वर के नाम उल्लेखनीय हैं।

डायरी : नित्य-जीवन में व्यक्ति अनेक घटनाओं से प्रभावित होता है। उसे कितने ही पात्र प्रभावित करते रहते हैं। इन सबको स्मृति में ही नहीं

बल्कि अपनी दिनचर्या के लेखा के रूप में भी सजोने की आवश्यकता का अनुभव होता है। इसी दृष्टि से व्यक्ति अपने रिक्त क्षणों में अपनी दिनचर्या का लेखन करता है। यह दिनचर्या-लेखन ही 'डायरी' है। 'डायरी' लेखक की निजता से संबंधित होती है। उसमें उसकी भावना का प्राधान्य होता है। वह अपने मन पर पड़े प्रभावों को ही 'डायरी' में लिखता है। इसमें लेखक तिथि अंकित कर उस तिथि में घटित होने वाली घटनाओं और संपर्क में आने वाले प्रभावशाली व्यक्तियों के संबंध में अपने मनोभावों का लेखन करता है। लेखक की भावना की प्रबलता के कारण 'डायरी' में साहित्यिकता आ जाती है।

पत्र : पत्र का जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। दूरस्थ व्यक्ति पत्रों के माध्यम से ही एक दूसरे से वार्ता करते हैं। इन पत्रों से रागात्मक संबंधों का पता चलता है। साहित्यिक पत्रों में 'रागात्मक-उद्‌वेलन की स्थिति अधिक रहती है। पत्र साहित्य के द्वारा विभिन्न समस्याओं पर विभिन्न व्यक्तियों के विचारों का परिचय मिलता है। स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि के पत्र 'पत्र-साहित्य' के रूप में प्रकाशित किए जा चुके हैं।

यात्रा वृतांत : यात्रा के समय अनेक प्रकार के अनुभव हमें प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ अनुभूतियाँ ऐसी होती हैं जो अपने प्रबल वेग के कारण अभिव्यक्त होने को मचल उठती हैं। लेखक इन प्रबल अनुभूतियों को प्रकाशित कर यात्रा-वर्णन प्रस्तुत करता है। यात्रा-वर्णन में यात्रा की समस्त वस्तुओं, व्यक्तियों और घटनाओं का विवरण ही नहीं प्रस्तुत किया जाता, अपितु यात्रा-क्रम में आने वाली प्रभावशाली घटनाओं का रोचकतापूर्ण वृतान्त प्रस्तुत किया जाता है। यात्रा-वर्णन में क्रमबद्धता को आवश्यक माना गया है। इससे यात्रा की गतिशीलता का परिचय मिलता है और प्रस्तुत वृतान्त को पढ़ने के प्रति कौतूहल बना रहता है। देश-विदेश में की जाने वाली यात्राओं का मनोरम चित्र यात्रा वृतान्त के लेखकों ने प्रस्तुत किया है। चित्र-विधान के कारण यात्रा वृतान्त रेखाचित्र के निकट आ जाता है, किन्तु वह रेखाचित्र नहीं है। रेखाचित्र के शिल्प-विधान से भिन्न शिल्प-विधान वाली यह एक पृथक साहित्यिक विधा है। इसमें कहानी-सा कौतूहल और निबंध-सा विषय-कथन होता है।

यात्रा, पद-यात्रा रूप में भी की जाती है और समुद्र तथा आकाश-मार्ग से भी की जाती है। प्रत्येक प्रकार की यात्रा के अपने अनुभव होते हैं। यात्रा के माध्यम से देश-विदेश की राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों का परिज्ञान

होता है. यात्रा वृतान्त का लेखनकर्ता अपनी रोचक शैली में इन समस्त अनुभवों को पाठक के समक्ष मूर्तमान करता है.

साहित्यिक विधा के रूप में यात्रा वृतान्त लिखने वाले साहित्यकारों में राहुल सांकृत्यायन: काका कालेलकर, अज्ञेय, रामवृक्ष बेनीपुरी, दिनकर, नगेन्द्र, राजेन्द्र अवस्थी आदि उल्लेखनीय हैं.